6

॥ श्रीहरिः ॥

आदर्श भक्त

राजा शिवि

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःखनाशनम् ॥*

(शिवि)

उशीनर-पुत्र हरिभक्त महाराज शिवि बड़े ही दयालु और शरणागतवत्सल थे । एक समय राजा एक महान् यज्ञ कर रहे थे । इतनेमें भयसे काँपता हुआ एक कबूतर राजाके पास आया और उनकी गोदमें छिप गया । इतनेमें ही उसके पीछे उड़ता हुआ एक विशाल बाज वहाँ आया और वह मनुष्यकी-सी भाषामें उदार-हृदय राजासे बोला ।

बाज—हे राजन् ! पृथ्वीके धर्मात्मा राजाओंमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं, पर आज आप धर्मसे विरुद्ध कर्म करनेकी इच्छा कैसे कर रहे हैं ? आपने कृतघ्नको धनसे, झूठको सत्यसे, निर्दयीको क्षमासे और असाधुको अपनी साधुतासे जीत लिया है । उपकार करने-वालेके साथ तो सभी उपकार करते हैं परन्तु आप बुराई करने-वालेका भी उपकार करते हैं । जो आपका अहित करता है, आप उसका भी हित करना चाहते हैं । पापियोंपर भी आप दया करते

* न मैं राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न अपुनर्भव—मोक्ष ही चाहता हूँ । मैं दुःखसे पीड़ित प्राणियोंके दुःखका नाश चाहता हूँ ।

हैं। और तो क्या, जो आपमें दोष ढूँढ़ते हैं, उनमें भी आप गुण ही ढूँढ़ते हैं। ऐसे होकर भी आज आप यह क्या कर रहे हैं! मैं भूखसे व्याकुल हूँ। मुझे यह कबूतररूपी भोजन मिला है, आप इस कबूतरके लिये अपना धर्म क्यों छोड़ रहे हैं?

कबूतर—महाराज! मैं बाजसे डरकर प्राणरक्षाके लिये आपके शरण आया हूँ। आप मुझे बाजको कभी मत दीजिये।

राजा—(बाजसे) तुमसे डरकर यह कबूतर अपनी प्राणरक्षाके लिये मेरे समीप आया है। इस तरहसे शरण आये हुए कबूतरका त्याग मैं कैसे कर दूँ? जो मनुष्य शरणागतकी रक्षा नहीं करते या लोभ, द्वेष अथवा भयसे उसे त्याग देते हैं, उनकी सज्जन लोग निन्दा करते हैं और उनको ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है। जिस तरह हम लोगोंको अपने प्राण प्यारे हैं, उसी तरह सबको प्यारे हैं। अच्छे लोगोंको चाहिये कि वे मृत्युभयसे व्याकुल जीवोंकी रक्षा करें। 'मैं मरूँगा' यह दुःख प्रत्येक पुरुषको होता है। इसी अनुमानसे दूसरेकी भी रक्षा करनी चाहिये। जिस प्रकार तुमको अपना जीवन प्यारा है उसी प्रकार दूसरोंको भी अपना जीवन प्रिय है! जिस तरह तुम भूखसे मरना नहीं चाहकर अपना जीवन बचाना चाहते हो, उसी तरह तुम्हें दूसरोंके जीवनकी भी रक्षा करनी चाहिये। हे बाज! मैं यह भयभीत कबूतर तुम्हें नहीं दे सकता और किसी उपायसे तुम्हारा काम बन सकता हो तो मुझे शीघ्र बतलाओ, मैं करनेको तैयार हूँ।

बाज—महाराज! भोजनसे ही जीव उत्पन्न होते, बढ़ते और जीते हैं, बिना भोजन कोई नहीं रह सकता! मैं भूखके मारे-मर

जाऊँगा तो मेरे बाल-बच्चे भी मर जायँगे। एक कबूतरके बचानेमें बहुतसे जीवोंकी जानें जायँगी। हे परन्तप ! उस धर्मको धर्म नहीं कहना चाहिये जो दूसरे धर्ममें बाधा पहुँचाता है। श्रेष्ठ पुरुष उसीको धर्म बतलाते हैं जिससे किसी भी धर्ममें बाधा नहीं पहुँचती। अतएव दो धर्मोंका विरोध होनेपर बुद्धिरूपी तराजूसे उन्हें तौलना चाहिये और जो अधिक महत्त्वका और भारी मालूम हो, उसे ही धर्म मानना चाहिये।

राजा—हे बाज ! भयमें पड़े हुए जीवोंकी रक्षा करनेसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। जो मनुष्य दयासे द्रवित होकर जीवोंको अभयदान देता है, वह इस देहके छूटनेपर सम्पूर्ण भयसे छूट जाता है। लोकमें बड़ाई या स्वर्गके लिये धन, वस्त्र और गौ देनेवाले बहुत हैं;परन्तु सब जीवोंकी भलाई करनेवाले पुरुष दुर्लभ हैं। बड़े-बड़े यज्ञोंका फल समयपर क्षय हो जाता है, पर भयभीत प्राणीको दिया हुआ अभयदान कभी क्षय नहीं होता—मैं राज्य या अपने दुस्त्यज शरीरका त्याग कर सकता हूँ, पर इस दीन, भयसे त्रस्त कबूतरको नहीं छोड़ सकता।

यन्ममास्ति शुभं किञ्चित्तेन जन्मनि जन्मनि।
भवेयमहमार्त्तानां प्राणिनामार्तिनाशकः॥
न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःखनाशनम्॥

'अपने पहलेके जन्मोंमें मैंने जो कुछ भी पुण्य किया है उसका फल मैं केवल यही चाहता हूँ कि दुःख और क्लेशमें पड़े हुए प्राणियोंका मैं क्लेश नाश कर सकूँ। मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ, और न मोक्ष चाहता हूँ, मैं चाहता हूँ, केवल दुःखमें तपते हुए प्राणियोंके दुःखका नाश !'

हे बाज ! तुम्हारा यह काम केवल आहारके लिये है । तुम आहार चाहते हो, मैं तुम्हारे दुःखका भी नाश चाहता हूँ, अतएव तुम मुझसे कबूतरके बदलेमें चाहे जितना और आहार माँग लो !

बाज—हमलोगोंके लिये शास्त्रानुसार कबूतर ही आहार है, अतएव आप इसीको छोड़ दीजिये ।

राजा—हे बाज ! मैं भी शास्त्रसे विपरीत नहीं कहता । शास्त्रके अनुसार सत्य और दया सबसे बड़े धर्म हैं । उठते, बैठते, चलते, सोते या जागते हुए जो काम जीवोंके हितके लिये नहीं होता वह पशुचेष्टाके समान है । जो मनुष्य स्थावर और जङ्गम जीवोंकी आत्मवत् रक्षा करते हैं वे ही परमगतिको प्राप्त होते हैं । जो मनुष्य समर्थ होकर भी मारे जाते हुए जीवकी परवा नहीं करता, वह घोर नरकमें गिरता है । मैं तुम्हें अपना समस्त राज्य दे सकता हूँ या इस कबूतरके सिवा तुम जो कुछ चाहोगे सो देनेको तैयार हूँ, पर कबूतरको नहीं दे सकता ।

बाज—हे राजन् ! यदि इस कबूतरपर आपका इतना ही प्रेम है तो इस कबूतरके ठीक बराबरका तौलकर आप अपना मांस मुझे दे दीजिये, मैं अधिक नहीं चाहता ।

राजा—बाज ! तुमने बड़ी कृपा की । तुम जितना चाहो उतना मांस मैं देनेको तैयार हूँ । इस क्षणभंगुर, अनित्य शरीरको देकर भी जो नित्य धर्मका आचरण नहीं करता वह मूर्ख शोचनीय है ।

यदि प्राण्युपकाराय देहोऽयं नोपयुज्यते ।
ततः किमुपकारोऽस्य प्रत्यहं क्रियते वृथा ॥

'यह शरीर यदि प्राणियोंके उपकारके लिये उपभोगमें न आवे तो प्रतिदिन इसका पालन-पोषण करना व्यर्थ है ।' हे बाज ! मैं तुम्हारे कथनानुसार ही करता हूँ ।'
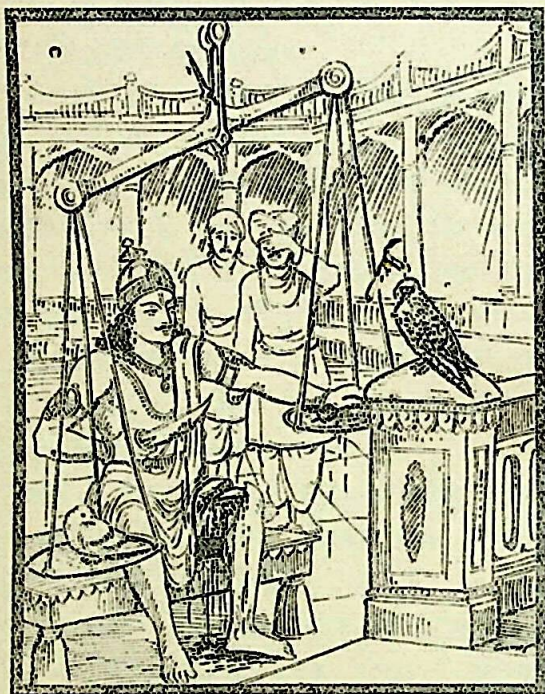
राजा शिवि

यह कहकर राजाने एक तराजू मँगवाया और उसके एक पलड़ेमें कबूतरको बैठाकर दूसरेमें वे अपना मांस काट-काटकर रखने लगे और उसे कबूतरके साथ तौलने लगे ! अपने सुखभोगकी इच्छाको त्यागकर सबके सुखमें सुखी होनेवाले सज्जन ही दूसरोंके दुःखमें सदा दुखी हुआ करते हैं । कबूतरकी रक्षा हो और बाजके भी प्राण बचें, दोनोंका ही दुःख निबारण हो, इसीलिये आज महाराज शिवि अपने शरीरका मांस अपने हाथों प्रसन्नतासे काट-काट दे रहे हैं । भगवान् छिपे-छिपे अपने भक्तके इस त्यागको देख-देख प्रसन्न हो रहे हैं । धन्य त्यागका आदर्श !

तराजूमें कबूतरका वजन मांससे बढ़ता गया, राजाने शरीर-भरका मांस काटकर रख दिया; परन्तु कबूतरका पलड़ा नीचा ही रहा । तब राजा स्वयं तराजूपर चढ़ गये । ठीक ही तो है—

परदुःखातुरा नित्यं सर्वभूतहिते रताः ।
नापेक्षन्ते महात्मानः स्वसुखानि महान्त्यपि ॥

'दूसरेके दुःखसे आतुर सदा समस्त प्राणियोंके हितमें रत महात्मालोग अपने महान् सुखकी तनिक भी परवा नहीं करते ।' राजा शिविके तराजूमें चढ़ते ही आकाशमें बाजे बजने लगे और नभसे पुष्प-वृष्टि होने लगी ।

राजा मनमें सोच रहे थे कि यह मनुष्यकी-सी वाणी बोलने-वाले कबूतर और बाज कौन हैं ? तथा आकाशमें बाजे बजनेका क्या कारण है, इतनेहीमें वह बाज और कबूतर अन्तर्धान हो गये और उनके बदलेमें दो दिव्य देवता प्रकट हो गये । दोनों देवता इन्द्र और अग्नि थे । इन्द्रने कहा—

'राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो !! मैं इन्द्र हूँ और जो कबूतर बना था वह यह अग्नि है। हम लोग तुम्हारी परीक्षा करने आये थे। तुमने जैसा दुष्कर कार्य किया है ऐसा आजतक किसीने नहीं किया। यह सारा संसार मोहमय कर्मपाशमें बँधा हुआ है, परन्तु तुम जगत्के दुःखोंसे छूटनेके लिये करुणासे बँध गये हो। तुमने बड़ोंसे ईर्ष्या नहीं की, छोटोंका कभी अपमान नहीं किया और बराबरवालोंके साथ कभी स्पर्धा नहीं की, इससे तुम संसारमें सबसे श्रेष्ठ हो। विधाताने आकाशमें जलसे भरे बादलोंको और फलसे भरे वृक्षोंको परोपकारके लिये ही रचा है। जो मनुष्य अपने प्राणोंको त्यागकर भी दूसरेके प्राणोंकी रक्षा करता है, वह उस परमधामको पाता है जहाँसे फिर लौटना नहीं पड़ता। अपना पेट भरनेके लिये तो पशु भी जीते हैं, किन्तु प्रशंसाके योग्य जीवन तो उन लोगोंका है जो दूसरेके लिये जीते हैं। सत्य है, चन्दनके वृक्ष अपने ही शरीरको शीतल करनेके लिये नहीं उत्पन्न हुआ करते। संसारमें तुम्हारे सदृश अपने सुखकी इच्छासे रहित, एकमात्र परोपकारकी बुद्धिवाले साधु केवल जगत्के हितके लिये ही पृथ्वीपर जन्म लेते हैं। तुम दिव्य-रूप धारण करके चिरकालतक पृथ्वीका पालन कर अन्तमें भगवान्के ब्रह्मलोकमें जाओगे।'

इतना कहकर इन्द्र और अग्नि स्वर्गको चले गये। राजा शिवि यज्ञ पूर्ण करनेके बाद बहुत दिनोंतक पृथ्वीका राज्य करके अन्तमें दुर्लभ परमपदको प्राप्त हुए।

राजा रन्तिदेव

राजा रन्तिदेव

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥
(रन्तिदेव)

भारतवर्ष नररत्नोंकी खानि है। किसी भी विषयमें लीजिये, इस देशके इतिहासमें उच्च-से-उच्च उदाहरण मिल सकते हैं। संकृति नामक राजाके दो पुत्र थे, एकका नाम था गुरु और दूसरेका रन्तिदेव। रन्तिदेव बड़े ही प्रतापी राजा हुए। इनकी न्यायशीलता, दयालुता, धर्मपरायणता और त्यागकी ख्याति तीनों लोकोंमें फैल गयी। रन्तिदेवने गरीबोंको दुखी देखकर अपना सर्वस्व दान कर डाला, इसके बाद वे किसी तरह कठिनतासे अपना निर्वाह करने लगे। पर उन्हें जो कुछ मिलता था उसे स्वयं भूखे रहनेपर भी वे गरीबोंको बाँट दिया करते थे। इस प्रकार राजा सर्वथा निर्धन होकर सपरिवार अत्यन्त कष्ट सहने लगे।

एक समय पूरे अड़तालीस दिनतक राजाको भोजनकी कौन कहे जल भी पीनेको नहीं मिला। भूख-प्याससे पीड़ित बलहीन राजाका शरीर काँपने लगा। अन्तमें उनचासवें दिन प्रातःकाल राजाको घी, खीर, हलवा और जल मिला। अड़तालीस दिनके लगातार अनशनसे राजा परिवारसहित बड़े ही दुर्बल हो गये थे। सबके शरीर काँप रहे थे। रोटीकी कीमत भूखा मनुष्य ही जानता है। जिसके सामने मेवे-मिष्टान्नोंके ढेर आगे-से-आगे लगे रहते हैं उसे गरीबोंके भूखे पेटकी ज्वालाका क्या पता !!

रन्तिदेव भोजन करना ही चाहते थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। करोड़ों रुपयोंमेंसे नामके लिये लाख रुपये दान करना बड़ा सहज है; परन्तु भूखे पेटका अन्न दान करना बड़ा कठिन कार्य है! पर सर्वत्र हरिको व्याप्त देखनेवाले भक्त रन्तिदेवने वह अन्न आदरसे श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणरूप अतिथिनारायणको बाँट दिया! ब्राह्मण भोजन करके तृप्त होकर चला गया।

उसके बाद राजा बचा हुआ अन्न परिवारको बाँटकर खाना ही चाहते थे कि एक शूद्र अतिथिने पदार्पण किया। राजाने भगवान् श्रीहरिका स्मरण करते हुए बचा हुआ अन्न उस दरिद्र-नारायणकी भेंट कर दिया। इतनेमें ही कई कुत्तोंको साथ लिये एक और मनुष्य अतिथि होकर वहाँ आया और कहने लगा—'राजन्! मेरे ये कुत्ते और मैं भूखा हूँ, भोजन दीजिये।'

हरिभक्त राजाने उसका भी सत्कार किया और आदरपूर्वक बचा हुआ सारा अन्न कुत्तोंसहित उस अतिथि भगवान्‌के समर्पण कर उसे प्रणाम किया!

अब एक मनुष्यकी प्यास बुझ सके—केवल इतना-सा जल बच रहा था। राजा उसको पीना ही चाहते थे कि अकस्मात् एक चाण्डालने आकर दीन स्वरसे कहा—'महाराज! मैं बहुत ही थका हुआ हूँ, मुझ अपवित्र नीचको पीनेके लिये थोड़ा-सा जल दीजिये।'

उस चाण्डालके दीन वचन सुनकर और उसे थका हुआ जानकर राजाको बड़ी दया आयी और उन्होंने ये अमृतमय वचन कहे—

'मैं परमात्मासे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंसे युक्त उत्तम गति या मुक्ति नहीं चाहता। मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं ही

सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख भोग करूँ जिससे उन लोगोंका दुःख दूर हो जाय।'

'इस मनुष्यके प्राण जल बिना निकल रहे हैं, यह प्राण-रक्षाके लिये मुझसे दीन होकर जल माँग रहा है, इसको यह जल देनेसे मेरी भूख, प्यास, थकावट, चक्कर, दीनता क्लान्ति, शोक, विषाद और मोह आदि सब मिट जायँगे।'

इतना कहकर स्वाभाविक दयालु राजा रन्तिदेवने स्वयं प्यासके मारे मृतप्राय रहनेपर भी उस चाण्डालको वह जल आदर और प्रसन्नतापूर्वक दे दिया। ये हैं भक्तके लक्षण!

फलकी कामना करनेवालोंको फल देनेवाले त्रिभुवननाथ ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही महाराज रन्तिदेवकी परीक्षा लेनेके लिये मायाके द्वारा क्रमशः ब्राह्मणादि रूप धरकर आये थे। अब राजाका धैर्य और उसकी भक्ति देखकर वे परम प्रसन्न हो गये और उन्होंने अपना-अपना यथार्थ रूप धारणकर राजाको दर्शन दिया। राजाने तीनों देवोंका एक ही साथ प्रत्यक्ष दर्शनकर उन्हें प्रणाम किया और उनके कहनेपर भी कोई वर नहीं माँगा; क्योंकि राजाने आसक्ति और कामना त्यागकर अपना मन केवल भगवान् वासुदेव-में लगा रखा था। यों परमात्माके अनन्य भक्त रन्तिदेवने अपना चित्त पूर्णरूपसे केवल ईश्वरमें लगा दिया और परमात्माके साथ तन्मय हो जानेके कारण त्रिगुणमयी माया उनके निकट स्वप्नके समान लीन हो गयी! रन्तिदेवके परिवारके अन्य सब लोग भी उनके संगके प्रभावसे नारायणपरायण होकर योगियोंकी परम गतिको प्राप्त हुए!

राजा अम्बरीष

[१]

किसी एक दरिद्र मनुष्यका भोग-पदार्थोंके अभावमें वैराग्यका आश्रय लेकर भगवान्‌की भक्तिमें लग जाना बहुत कुछ सम्भव है, परन्तु जिसके साधारण-से संकेतसे देवदुर्लभ विलास-सामग्रियोंका समूह अनायास ही एकत्रित हो सकता है। ससागरा पृथ्वीके सातों द्वीपोंपर जिसकी प्रभुताका निष्कण्टक विस्तार है और जिसके धन-ऐश्वर्यादिकी कोई सीमा नहीं है; ऐसे एक परम वैभवशाली सम्राट्‌का अपने समस्त भोग-पदार्थोंको तुच्छ और हेय समझकर वैराग्ययुक्त हो आनन्दमय प्रभुकी अनन्य भक्तिमें लग जाना बड़ा ही कठिन कार्य है। साधारण-सा धन और अधिकार मनुष्यको अंधा बना देता है। कामिनी, काञ्चन और प्रभुत्वमें बड़ी मादकता होती है, बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष इनके मदमें मत्त होकर अपना सर्वनाश कर बैठते हैं।

श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि प्रभुता वधिर न काहि।
मृगलोचनि के नैन सर को अस लाग न जाहि॥

(गोसाईं तुलसीदासजी)

परन्तु जो भाग्यवान् जन उस अशरणशरण दीनबन्धुके दरबारमें अपना नाम दीनोंकी श्रेणीमें लिखवाकर शरणागतिकी सनद प्राप्त कर लेते हैं, प्रभुकी अनिर्वचनीय अनुकम्पासे उनपर किसी भी मादक पदार्थकी मादकताका कोई असर नहीं
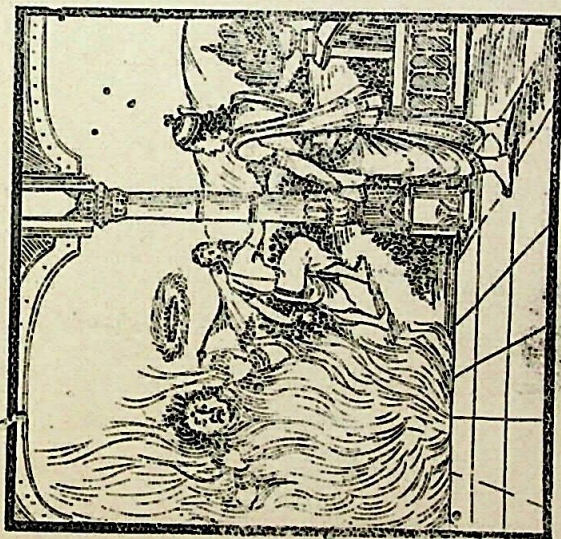
दुर्वासा और भक्त अम्बरीष
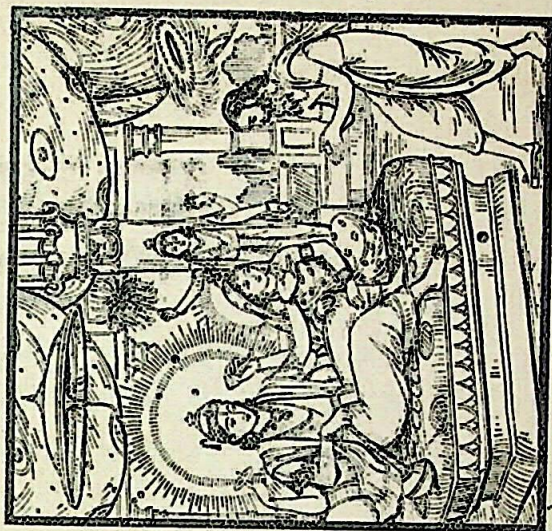
दुर्वासाजी वैकुण्ठमें

होता, वे तो 'जलमें कमल' की तरह लोकदृष्टिसे जगत्में रहते हुए भी सदैव सबसे निर्लेप रहते हैं। भक्तवर अम्बरीष भी एक ऐसे ही परम भाग्यवान् भक्त थे। अम्बरीषजीका चरित्र बड़ा ही पवित्र है। आप वैवस्वतमनुके पौत्र महाराज नाभागके सुपुत्र थे और एक विशाल साम्राज्यके अधीश्वर थे।

श्रीमद्भागवत (९। ४। १५) में लिखा है—

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम्।
अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि॥

सप्तद्वीपमयी पृथ्वीका राज्य, कभी शेष न होनेवाली सम्पदा और अतुल ऐश्वर्य उनको प्राप्त था, परन्तु वे इस बातको भलीभाँति जानते थे कि यह समस्त ऐश्वर्य स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके सदृश असत् है, उनको यह भी विदित था कि धन-सम्पत्तिकी प्राप्तिसे मनुष्यको मोह होता है और उसके नाशसे बुद्धि मारी जाती है। वास्तवमें यह सत्य है कि भगवान् वासुदेवके परम भक्त संतोंको यह सारा विश्व 'लोष्ठवत्स्मृतम्' मिट्टीके ढेलेके समान तुच्छ प्रतीत होने लगता है! इसी दृढ़ प्रतीतिके कारण भक्तवर अम्बरीषने अपना सारा जीवन परमात्माके पावन चरणकमलोंमें समर्पण कर दिया था, दिन-रात उनकी समस्त इन्द्रियाँ मनसहित भगवत्-सेवामें लगी रहती थीं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥
एवं सदा कर्मकलापमात्मनः
परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे ।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां
तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह ॥
(९ । ४ । १८–२१)

'(राजा अम्बरीषने) अपने मनको भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें, वाणीको उनके गुणानुवाद गानेमें, हाथोंको श्रीहरि-मन्दिरके झाड़ने-बुहारनेमें और कानोंको भगवान् अच्युतकी पवित्र कथाओंके सुननेमें लगाया था ।'

'नेत्रोंको भगवान्‌की मूर्तिके दर्शनमें, अङ्गोंको भगवत्सेवकोंके अङ्गोंसे स्पर्श करनेमें, नासिकाको श्रीहरिके चरणकमलोंपर चढ़ी हुई श्रीतुलसीजीकी सुगन्धको सूँघनेमें और रसनाको श्रीहरिके प्रसादका रस लेनेमें लगाया था ।'

'पैरोंको श्रीहरिके पवित्र स्थानोंमें जानेमें और मस्तकको श्रीहृषीकेशके चरणोंकी वन्दनामें लगाया था । विषयी जनोंकी भाँति वे विषय-भोगोंमें लिप्त नहीं थे । वे जो कुछ भी भोग करते सो

सब श्रीहरिका प्रसाद समझकर करते । भगवान्‌के भक्तोंमें प्रीति हो इसलिये वे सब प्रकारके भोगोंको (पहले हरिभक्तोंकी सेवामें अर्पण कर पीछे स्वयं) ग्रहण करते थे ।'

'अपने समस्त कर्म उस यज्ञपुरुष परमात्मा, अधोक्षज श्रीकृष्णमें अर्पण करते हुए और सबका आत्मा भगवान् ही हैं, ऐसी भावना करते हुए (राजा अम्बरीष) भगवत्-परायण ब्राह्मणोंकी बतलायी हुई रीतिके अनुसार न्यायपूर्वक राज्यका पालन करते थे ।'

कैसा आदर्श जीवन है ! जो इस प्रकार अपनी सारी क्रियाओंको परमात्माके प्रति अर्पण कर देता है, उसीके लिये तो परमात्माको अवतार धारण करके भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करनी पड़ती हैं !

राजा अम्बरीषने निष्कामभावसे अनेक वैदिक यज्ञोंका अनुष्ठान किया, विविध वस्तुओंके प्रचुर दानसे सर्वव्यापी परमात्माकी सेवा की और वे सब प्रकारकी स्पृहासे मुक्त होकर दिन-रात भगवत्प्रेममें निमग्न रहने लगे । स्वर्गका सुख तो उन्हें अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होने लगा । जो लोग अपने शुद्ध हृदयके सुरम्य सिंहासनपर भगवान् मुकुन्दको विराजित देखते हैं, उनको ऐसा अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है कि जिसके सामने अन्य समस्त आनन्द अति तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं ।

जो भाग्यशाली पुरुष हरिप्रेमामृतके मधुरास्वादको चखकर सन्तुष्ट और अमर हो जाता है, उसकी दृष्टि विषयपूर्ण मोदककी तरफ कदापि नहीं जाती । राजा अम्बरीष भी भगवत्प्रेमसुधाको पानकर गृह, स्त्री, पुत्र, स्वजन, गज, रथ, घोड़े, रत्न, वस्त्र,

आभूषण, शस्त्रास्त्र, कभी शेष न होनेवाले धनके भण्डार और स्वर्गादिको तुच्छ तथा मिथ्या समझकर केवल भगवद्भक्तिमें लग गये।

राजाकी तो बात ही क्या है, उनके अधीन रहनेवाले समस्त राजकर्मचारी और नगरनिवासियोंने भी देवताओंके प्रिय स्वर्गकी इच्छाको छोड़कर केवल श्रीहरिके पवित्र चरित्रोंको सुनने-सुनानेमें अपना-अपना मन लगा दिया। इस प्रकार जब राजा अम्बरीषने अपनी प्रजासमेत केवल एक भगवान्‌का आश्रय ग्रहण कर लिया तब भगवान्‌को भी उनकी रक्षाका भार ग्रहण करना पड़ा। यही नियम है। जब मनुष्य अपनी सारी चिन्ताओं-का भार उस चिन्ताहरण चतुरचिन्तामणिके चारु चरणकमलोंमें डालकर निश्चिन्त हो जाता है तब भगवान् उसे कहते हैं कि 'मा शुचः' चिन्ता न करो, तुम्हारा सारा भार मैंने ले लिया! बड़ी साधनासे ऐसी अवस्था होती है!

भगवान्‌ने भक्तकी सब प्रकारकी रक्षाके लिये दुष्टदर्पदलन-कारी सुदर्शनको नियुक्त कर दिया। सुदर्शन प्रभुकी अनुमति पाकर राजद्वारपर पहरा देने लगा।

[२]

महाराज अम्बरीषकी पतिव्रता रानी भी पतिकी भाँति भगवान्‌की पूर्ण अनुरागिणी थी। एक समय राजाने रानीसमेत श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये एक वर्षकी एकादसियोंके व्रतका नियम किया। वर्ष समाप्त होनेपर विधिवत् भगवान्‌की पूजा की गयी। बहुत बड़ी संख्यामें वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई गौएँ दान दी गयीं।

और आदरसहित ब्राह्मणोंको भोजन कराया गया। यह सब कर चुकनेपर राजा पारण करना ही चाहते थे कि ऋषि दुर्वासा अपने शिष्योंसहित पधारे। अतिथि-सत्कारका महत्त्व जाननेवाले राजाने सब प्रकारसे दुर्वासाजीका सत्कार कर उनसे भोजन करनेके लिये प्रार्थना की। ऋषिने भोजन करना स्वीकार किया और वे मध्याह्नका नित्यकर्म करनेके लिये यमुनाजीके तटपर चले गये। द्वादशी केवल एक ही घड़ी बाकी थी, द्वादशीमें पारण न होनेसे व्रत-भंग होता है। राजा धर्मसङ्कटमें पड़े और ब्राह्मणोंसे व्यवस्था लेकर हरिभक्त राजाने श्रीहरिका चरणोदक लेकर पारण कर लिया और भोजन करानेके लिये दुर्वासाजीकी बाट देखने लगे। दुर्वासाजी अपनी नित्यक्रियाओंसे निवृत्त होकर राजमन्दिरमें लौटे और अपने तपोबलसे राजाके पारण कर लेनेकी बातको जानकर अत्यन्त क्रोधसे त्यौरी चढ़ाकर अपराधीकी तरह हाथ जोड़े सामने खड़े हुए राजासे कहने लगे कि 'अहो! इस धनमदसे अन्ध अधम राजाकी धृष्टता और धर्मके निरादरको तो देखो! अब यह विष्णु-का भक्त नहीं है। यह तो अपनेको ही ईश्वर मानता है। मुझ अतिथिको निमन्त्रण देकर इसने मुझे भोजन कराये बिना ही स्वयं भोजन कर लिया। इसे अभी इसका फल चखाता हूँ।' यों कहकर दुर्वासाजीने मस्तकसे जटा उखाड़कर जोरसे उसे पृथ्वीपर पटकी जिससे तत्काल कालाग्निके समान कृत्या नामक एक भयानक राक्षसी प्रकट हो गयी और वह अपने चरणोंकी चोटसे पृथ्वीको कँपाती हुई तलवार हाथमें लिये राजाकी ओर झपटी। परन्तु राजा निर्भय मनसे ज्यों-के-त्यों खड़े रहे, वे न पीछे हटे और न उन्हें किसी प्रकारका भय हुआ। जो समस्त संसारमें परमात्माको

व्यापक समझता है, वह किससे डरे और कैसे डरे ? वह तो भयानक-से-भयानक रूपमें भी उसी मनमोहनकी माधुरीका दर्शन कर अपनी प्राणपुष्पाञ्जलिसे निरन्तर उसकी पूजा करनेको प्रस्तुत रहता है। वह कहता है—

तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब
तब फिर मैं किसलिये डरूँ ?
मरण-साज सज यदि आओ तो
चरण पकड़ सानन्द मरूँ॥

राजा अम्बरीष तो इसी धुनमें मस्त थे; परन्तु भगवान्‌ने जिसको पहलेसे ही अपने सेवककी रक्षाके लिये नियुक्त कर रक्खा था, उस सुदर्शनचक्रने कृत्याको उसी क्षण ऐसे भस्म कर दिया जैसे प्रचण्ड दावानल कुपित सर्पको भस्म कर डालता है। सुदर्शन इसीसे शान्त नहीं हुआ, वह उन भक्तद्रोही ऋषि दुर्वासाजीकी खबर लेनेके लिये उनके पीछे चला। चौबेजी आये थे छब्बेजी होने, हो बैठे दूबेजी। लेनेके देने पड़े। दुर्वासा बड़े घबराये और प्राण लेकर भागे। चक्र पीछे-पीछे चला। दुर्वासा दसों दिशाओंमें और चौदहों भुवनोंमें भटके। पाताल, पृथ्वी, समुद्र और आकाशमें गये; लोक-लोकपाल, सुर-सुरेन्द्र और ब्रह्मा-शिव सबके समीप गये; परन्तु कहीं भी उन्हें ठहरनेको ठौर नहीं मिली। किसीने भी उन्हें आश्रय और अभय दान नहीं दिया। वे दौड़ते-दौड़ते हैरान हो गये। मुनिको अत्यन्त दुखी जानकर भगवान् श्रीशिवजीने उन्हें वैकुण्ठमें श्रीविष्णु भगवान्‌के पास जानेका परामर्श दिया। बेचारे वैकुण्ठमें गये और भगवान् श्रीविष्णुके चरणोंमें पड़कर गिड़गिड़ाते हुए बोले—'हे प्रभो ! मैंने आपके प्रभावको न जानकर

आपके भक्तका अपमान किया है मुझे इस अपराधसे छुड़ाइये ! आपके नामकीर्तनमात्रसे ही नरकके जीव भी नरकके कष्टोंसे छूट जाते हैं । अतएव मेरा अपराध क्षमा कीजिये ।'

भगवान् भृगुकी लात सह सकते हैं, परंतु भक्तका तिरस्कार नहीं सह सकते ! दुर्वासाजीको भगवान्‌की ओरसे जो उत्तर मिला उससे सच्चे भक्तकी अतुलनीय महिमा संसारमें सदाके लिये स्थापित हो गयी । भगवान्‌ने कहा—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६३-६४)

'हे ब्रह्मन् ! मैं भक्तके अधीन हूँ; स्वतन्त्र नहीं हूँ, मुझे भक्तजन बड़े प्रिय हैं । मेरे हृदयपर उनका पूर्ण अधिकार है । जिन्होंने मुझको ही अपनी परम गति माना है उन अपने परम भक्त साधुओंके सामने मैं अपनी आत्मा और सम्पूर्ण श्री (या अपनी लक्ष्मी) को भी कुछ नहीं समझता ।' भगवान्‌ने फिर कहा—

'जो भक्त (मेरे लिये) स्त्री, पुत्र, घर, परिवार, धन, प्राण, इहलोक और परलोक सबको त्यागकर केवल मेरा ही आश्रय लेते हैं उन्हें मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ? जैसे पतिव्रता स्त्री अपने शुद्ध प्रेमसे श्रेष्ठ पतिको वशमें कर लेती है उसी प्रकार मुझमें चित्त लगानेवाले सर्वत्र समदर्शी साधुजन भी अपनी शुद्ध भक्तिसे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं । काल पाकर नष्ट होनेवाले स्वर्गादि

लोकोंकी तो गिनती ही क्या है, मेरी सेवा करनेपर उन्हें जो चार प्रकारकी (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) मुक्ति मिलती है, उनको भी वे ग्रहण नहीं करते ! मेरे प्रेमके सामने वे सबको तुच्छ समझते हैं; इसलिये हे ब्रह्मन्—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६८)

'साधु मेरा हृदय है और मैं उन साधुओंका हृदय हूँ । वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते तो मैं भी उनके सिवा और किसीको नहीं जानता ।'

इस प्रकार भक्तोंका और अपना नाता बतलाकर अन्तमें भयभीत हुए दुर्वासाजीसे अपनी स्वाभाविकी दयाके कारण भगवान्ने कहा—

ब्रह्मंस्तद् गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम् ।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ७१)

'हे ब्रह्मन् ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम उसी महाभाग नाभागपुत्र राजा अम्बरीषके समीप जाओ और उससे क्षमा माँगो, तभी तुम्हें शान्ति मिलेगी ।' भगवान्की आज्ञा पाकर दुर्वासाजी लौट चले ।

(३)

इधर साधुहृदय क्षमामूर्ति अम्बरीषकी विचित्र अवस्था थी । जबसे दुर्वासाजीके पीछे चक्र चला था तभीसे राजा अम्बरीष ऋषिके संतापसे सन्तप्त हो रहे हैं । साधुका हृदय मक्खनसे

बढ़कर कोमल होता है। मक्खन स्वयं ताप पानेपर पिघलता है; परन्तु साधुका हृदय तो दूसरेके तापसे द्रवित हुआ जाता है।

निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

अम्बरीषजीने मनमें सोचा, ब्राह्मण भूखे गये हैं और मेरे ही कारण उन्हें मृत्युभयसे ग्रस्त होकर इतना दौड़ना पड़ रहा है, इस अवस्थामें मुझे भोजन करनेका क्या अधिकार है। यों विचारकर राजाने उसी क्षणसे अन्न त्याग दिया और वे केवल जल पीकर रहने लगे। दुर्वासाजीके लौटकर आनेमें पूरा एक वर्ष बीत गया; परन्तु अम्बरीषजीका व्रत नहीं टला। दुर्वासाके दर्शनकी इच्छासे राजा तबतक केवल जलपर ही रहे!

दुर्वासाजीने आते ही राजाके चरण पकड़ लिये। राजाको बड़ा सङ्कोच हुआ। ब्राह्मणको सङ्कटमें पड़े जानकर राजाका संताप और भी बढ़ गया। उन्होंने बड़ी विनयके साथ अर्थयुक्त वाणीसे सुदर्शनकी स्तुतिकर उसे शान्त किया। दुर्वासाजी भयानक मृत्युसे मुक्त हुए और उनके चेहरेपर हर्ष और कृतज्ञताके चिह्न स्पष्टरूपसे प्रकट हो गये। दुर्वासाजी आशीर्वाद देते हुए बोले—

'अहो! आज मैंने भगवान्‌के दासोंका महत्त्व देखा। मैंने तुम्हारा इतना अपराध किया, तो भी तुमने मेरे कल्याणकी ही चेष्टा की। जिन लोगोंने भक्तवत्सल भगवान्‌को अपने वशमें कर लिया है, उनके लिये कोई भी कार्य दुष्कर नहीं तथा कोई भी त्याग दुस्त्यज नहीं है। जिसके नामश्रवणमात्रसे मनुष्य पापोंसे

छूट जाता है उस तीर्थपाद श्रीहरिके दासके लिये कौन-सा कार्य करना शेष रहा है ?

'हे राजन् ! तुम बड़े दयालु हो, तुमने मेरे प्रति बड़ी दया की है, मेरे अपराधकी ओर कुछ भी न देखकर तुमने मेरे प्राण बचाये हैं ।' ऋषिके इन वाक्योंसे अम्बरीषके मनमें कोई अभिमान नहीं हुआ । जगत्में अपनी जरा-सी झूठी बड़ाई भी सुनकर लोग फूल जाते हैं; परन्तु अम्बरीषने सच्ची बातें सुनकर भी यही सोचा कि यह सब भगवत्कृपाका ही प्रभाव है ।'

विज्ञ पाठक और पाठिकाओ ! ध्यान दीजिये इस चरित्रपर यह हैं सच्चे भक्तके सुन्दर लक्षण । अपकार करनेवालेका भी उपकार करना, दुःख देनेवालेको भी सुख पहुँचाना, काँटा चुभानेवालेको भी कोमल कुसुम देना और मारनेवालेको भी बचाना ! धन्य !!

तदनन्तर राजाने बड़े आदरसे दुर्वासाजीके चरणयुगलोंको छूकर उन्हें आदरपूर्वक भोजन कराया एवं उनके चले जानेके बाद ब्राह्मण-भोजन करा बचे हुए पवित्र अन्नको प्रसादरूपसे ग्रहण किया ।

इसी प्रकार राजा अम्बरीष अपने समस्त कर्म परमात्मा वासुदेवको अर्पण करते हुए उनकी भक्तिमें लगे रहे । तदनन्तर उन्होंने राज्यका भार अपने पुत्रोंको सौंपकर आत्मस्वरूप भगवान् वासुदेवमें मन लगाकर वनमें प्रयाण किया और अन्तमें गुणोंसे अतीत होकर वे परम कल्याणको प्राप्त हो गये !

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !
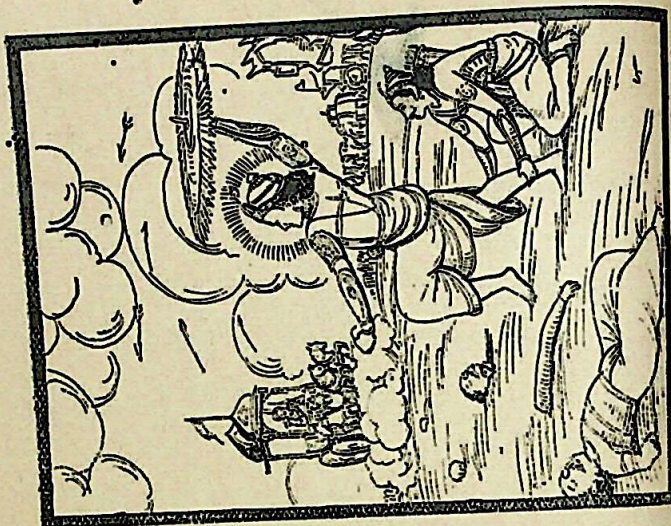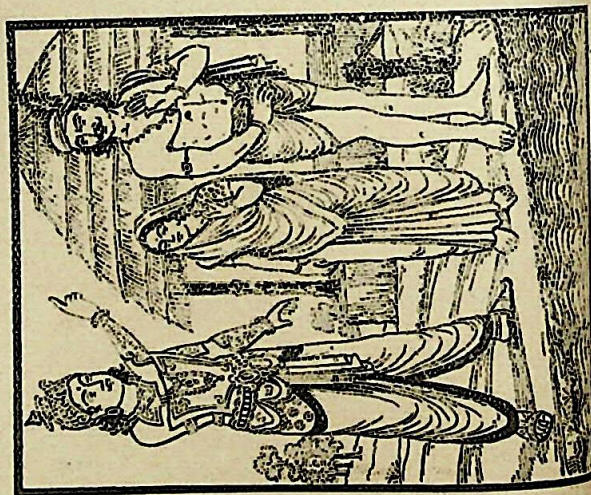
भीष्मपितामह

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथञ्चन ॥*

(भीष्म)

भक्तराज भीष्मपितामह महाराज शान्तनुके औरस पुत्र थे और गङ्गादेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे । वशिष्ठ ऋषिके शापसे आठों वसुओंने मनुष्ययोनिमें अवतार लिया था, जिनमें सातको तो गङ्गाजीने जन्मते ही जलके प्रवाहमें बहाकर शापसे छुड़ा दिया ।

* 'मैं त्रिलोकीका राज्य छोड़ सकता हूँ, देवताओंका राज्य भी छोड़ सकता हूँ और जो इन दोनोंसे अधिक है उसे भी छोड़ सकता हूँ, पर सत्य कभी नहीं छोड़ सकता ।'

द्यो नामक वसुके अंशावतार भीष्मको राजा शान्तनुने रख लिया। गङ्गादेवी पुत्रको उसके पिताके पास छोड़कर चली गयीं। बालक-का नाम देवव्रत रक्खा गया था।

दासके द्वारा पालित हुई सत्यवतीपर मोहित हुए धर्मशील राजा शान्तनुको विषादयुक्त देखकर युक्तिसे देवव्रतने मन्त्रियोंद्वारा पिताके दुःखका कारण जान लिया और पिताकी प्रसन्नताके लिये सत्यवतीके धर्मपिता दासके पास जाकर उसके इच्छानुसार 'राजसिंहासनपर न बैठने और आजीवन ब्रह्मचर्य पालनेकी कठिन प्रतिज्ञा करके पिताका सत्यवतीके साथ विवाह करवा दिया। पितृभक्तिसे प्रेरित होकर देवव्रतने अपना जन्मसिद्ध राज्याधिकार छोड़कर सदाके लिये स्त्रीसुखका भी परित्याग कर दिया, इसलिये देवताओंने प्रसन्न होकर पुष्पवृष्टि करते हुए देवव्रतका नाम भीष्म रक्खा। पुत्रका ऐसा त्याग देखकर राजा शान्तनुने भीष्मको वरदान दिया कि, 'तू जबतक जीना चाहेगा तबतक मृत्यु तेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकेगी, तेरी इच्छामृत्यु होगी। निष्काम पितृभक्त और आजीवन अस्खलित ब्रह्मचारीके लिये ऐसा होना कौन बड़ी बात है ? कहना नहीं होगा कि भीष्मने आजीवन प्रतिज्ञाका पालन किया।

भीष्मजी बड़े ही वीर योद्धा थे और उनमें क्षत्रियोंके सब गुण मौजूद थे। गीतामें क्षत्रियोंके ये स्वाभाविक गुण कहे हैं—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

(१८। ४३

अर्थात् 'वीरता, तेज, धैर्य, कुशलता, युद्धसे कभी न हटना, दान और ऐश्वर्यभाव—ये क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं।'

भीष्मजीमें क्षत्रियोचित ये सब गुण प्रकट थे। वीरमूर्ति क्षत्रियकुल-संहारक परशुरामजीसे इन्होंने शस्त्रविद्या सीखी थी। जिस समय परशुरामजीने भीष्मजीसे यह आग्रह किया कि तुम काशिराज-की कन्या अम्बासे विवाह कर लो, उस समय भीष्मजीने ऐसा करनेसे बिल्कुल इन्कार कर दिया और बड़ी नम्रतासे गुरुका सम्मान करते हुए अपनी स्वाभाविक शूरता और तेज़भरे शब्दोंमें कहा—

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम्॥
(महा० उद्योग० १७८। ३४)

'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं कभी क्षात्रधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा सदाका व्रत है।'

परशुरामजीको बहुत कुछ समझानेपर भी जब वे नहीं माने और धमकी-पर-धमकी देने लगे, तब भीष्मने कहा—आप कहते हैं कि मैंने अकेले ही इस लोकके सारे क्षत्रियोंको इक्कीस बार जीत लिया था, उसका कारण यही है कि—

न तदा जातवान् भीष्मः क्षत्रियो वापि मद्विधः।

उस समय भीष्म या भीष्मके समान किसी क्षत्रियने पृथ्वीपर जन्म नहीं लिया था, पर अब मैं आपके अभिमानको चूर्ण कर दूँगा इसमें कोई सन्देह नहीं है।

व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम न संशयः ॥

परशुरामजी कुपित हो गये । युद्ध छिड़ गया और लगातार तेईस दिनोंतक भयानक युद्ध होता रहा, परन्तु परशुरामजी भीष्मको परास्त नहीं कर सके । ऋषियों और देवताओंने आकर दोनोंको समझाया, परन्तु भीष्मने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार शस्त्र नहीं छोड़े । वे बोले—

मम व्रतमिदं लोके नाहं युद्धात् कदाचन ॥
विमुखो विनिवर्तेयं पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।
नाहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नार्थकारणात् ॥
त्यजेयं शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः ।
(महा० उद्योग० १८५ । २५–२७)

'मेरी यह प्रतिज्ञा है कि मैं युद्धमें पीठ दिखाकर पीछेसे बाणों-का प्रहार सहता हुआ कभी निवृत्त नहीं होऊँगा । लोभ, दीनता, भय और अर्थ आदि किसी कारणसे भी मैं अपना सनातनधर्म नहीं छोड़ सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है ।'

इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियहीन करनेवाले अमिततेजस्वी परशुराम भीष्मको जीत नहीं सके, अन्तमें देवताओंने बीचमें पड़कर युद्ध बंद करवाया, परन्तु भीष्मकी प्रतिज्ञा भङ्ग न हुई !

जब सत्यवतीके दोनों पुत्र मर गये, भरतवंश और राज्यका कोई आधार नहीं रहा तब सत्यवतीने भीष्मसे राजगद्दी स्वीकार करने या पुत्रोत्पादन करनेके लिये कहा । भीष्म चाहते तो निष्कलङ्क कहलाकर राज्य और स्त्रीका सुख अनायास भोग सकते थे, । परंतु

अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये मनुष्यके मनको अत्यन्त आकर्षित करनेवाले इन दोनों भोगोंपर उन्होंने लात मार दी। सत्यवतीके बहुत आग्रह करनेपर भीष्मने स्पष्ट कह दिया कि 'माता ! तू इसके लिये आग्रह न कर। पञ्च महाभूत चाहे अपना गुण छोड़ दें, सूर्य और चन्द्रमा चाहे अपने तेज और शीतलताको त्याग दें, इन्द्र और धर्मराज अपना बल और धर्म छोड़ दें, परन्तु तीनों लोकोंके राज्यसुख या उससे भी अधिकके लिये मैं अपना प्रिय सत्य कभी नहीं छोड़ सकता।'

भीष्मने दुर्योधनकी अनीति देखकर उसे कई बार मीठे-कड़े शब्दोंमें समझाया था, पर वह नहीं समझा और जब युद्धका समय आया तब पाण्डवोंकी ओर मन होनेपर भी भीष्मने बुरे समयमें आश्रयदाताकी सहायता करना धर्म समझकर कौरवोंके सेनापति बनकर पाण्डवोंसे युद्ध किया। वृद्ध होनेपर भी उन्होंने दस दिनतक तरुण योद्धाकी तरह लड़कर रणभूमिमें अनेक बड़े-बड़े वीरोंको सदाके लिये सुला दिया और अनेकोंको घायल किया। कौरवोंकी रक्षा असलमें भीष्मके कारण ही कुछ दिनोंतक हुई। महाभारतके अठारह दिनोंके सारे संग्राममें दस दिनोंका युद्ध अकेले भीष्मजीके सेनापतित्वमें हुआ, शेष आठ दिनोंमें कई सेनापति बदले। इतना होनेपर भी भीष्मजी पाण्डवोंके पक्षमें सत्य देखकर उनका मंगल चाहते और यह मनाते थे कि अन्तमें जीत पाण्डवोंकी होगी।

भीष्मजी ज्ञानी, दृढ़प्रतिज्ञ, धर्मवित्, सत्यवादी, विद्वान्, राजनीतिज्ञ, उदार, जितेन्द्रिय और अप्रतिम योद्धा होनेके साथ ही

भगवान्के अनन्य भक्त थे। श्रीकृष्ण महाराजको साक्षात् भगवान्के रूपमें सबसे पहले भीष्मजीने ही पहचाना था। धर्मराजके राजसूय यज्ञमें युधिष्ठिरके यह पूछनेपर कि 'अग्रपूजा किसकी होनी चाहिये,' भीष्मजीने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि तेज, बल, पराक्रम तथा अन्य सभी गुणोंमें श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रथम पूजा पाने योग्य हैं। भीष्मकी आज्ञासे सहदेवके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा होनेपर जब शिशुपाल आदि राजा बिगड़े और उत्तेजित होकर कहने लगे कि 'इस घमंडी बूढ़ेको पशुकी तरह काट डालो या इसे खौलते हुए तेलकी कड़ाहीमें डाल दो' तब भीष्मने कुछ भी न घबराकर स्वाभाविक तेजसे तमककर कहा कि 'हम जानते हैं श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति और विनाशके कारण हैं। इन्हींके द्वारा यह चराचर विश्व रचा गया है, यही अव्यक्त प्रकृति, कर्त्ता, सर्वभूतोंसे परे सनातन ब्रह्म हैं, यही सबसे बड़े पूजनीय हैं और जगत्के सारे सद्गुण इन्हींमें प्रतिष्ठित हैं। सब राजाओंका मान मर्दनकर हमने श्रीकृष्णकी अग्रपूजा की है, जिसे यह मान्य न हो वह श्रीकृष्णके साथ युद्ध करनेको तैयार हो जाय। श्रीकृष्ण सबसे बड़े हैं, सबके गुरु हैं, सबके बन्धु हैं और सब राजाओंसे पराक्रममें श्रेष्ठ हैं, इनकी अग्रपूजा जिन्हें अच्छी नहीं लगती उन मूर्खोंको क्या समझाया जाय ?'

यज्ञमें विघ्नकी सम्भावना देखकर जब धर्मराजने भीष्मसे यज्ञ-रक्षाका उपाय पूछा तब भीष्मने दृढ़ निश्चयके साथ कह दिया—'युधिष्ठिर ! तुम इसकी चिन्ता न करो, शिशुपालकी खबर श्रीकृष्ण आप ही ले लेंगे।' अन्तमें, शिशुपालके सौ अपराध पूरे होनेपर

भगवान् श्रीकृष्णने वहीं उसे चक्रसे मारकर अपनेमें मिला लिया।

महाभारत-युद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा करके सम्मिलित हुए थे। वे अपनी भक्तवत्सलताके कारण सखा भक्त अर्जुनका रथ हाँकनेका काम कर रहे थे। बीचहीमें एक दिन किसी कारणवश भीष्मने यह प्रण कर लिया, 'भगवान्को शस्त्र ग्रहण करवा दूँगा।' सूरदासजी भीष्मप्रतिज्ञाका बड़ा सुन्दर वर्णन करते हैं—

आज जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननीको, सांतनु-सुत न कहाऊँ॥
स्यन्दन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वजसहित डुलाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहिं हरिकी छत्रिय गतिहिं न पाऊँ॥
पाण्डवदल सनमुख ह्वै धाऊँ सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास रनभूमि विजय बिन जिअत न पीठ दिखाऊँ॥

भीष्मने यही किया। भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। जगत्पति पीताम्बरधारी वासुदेव श्रीकृष्ण बार-बार सिंहनाद करते हुए हाथमें रथका टूटा चक्का लेकर भीष्मजीकी ओर ऐसे दौड़े जैसे वनराज सिंह गरजते हुए विशाल गजकी ओर दौड़ता है। भगवान्का पीला दुपट्टा कन्धेसे गिर पड़ा। पृथ्वी काँपने लगी। सेनामें चारों ओरसे 'भीष्म मारे गये' 'भीष्म मारे गये' की आवाज आने लगी। परन्तु इस समय भीष्मको जो असीम आनन्द था उसका वर्णन करना सामर्थ्यके बाहरकी बात है। भगवान्की भक्तवत्सलता-पर मुग्ध हुए भीष्म उनका स्वागत करते हुए बोले—

एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते।
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे॥
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ।
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः॥
सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे।
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ॥

अर्थात् 'हे पुण्डरीकाक्ष ! आओ, आओ ! हे देवदेव !! तुमको मेरा नमस्कार है। हे पुरुषोत्तम ! आज इस महायुद्धमें तुम मेरा वध करो। हे परमात्मन् ! हे कृष्ण ! हे निष्पाप ! हे गोविन्द ! तुम्हारे हाथसे युद्धमें मरनेपर मेरा अवश्य ही सब प्रकारसे परम कल्याण हो जायगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हूँ। हे पापरहित ! मुझपर तुम युद्धमें इच्छानुसार प्रहार करो, मैं तुम्हारा दास हूँ।'

अर्जुनने पीछेसे दौड़कर भगवान्के पैर पकड़ लिये और उन्हें लौटाया। भगवान् तो अपने भक्तकी प्रतिज्ञा सत्य करनेको दौड़े थे, भीष्मका वध तो अर्जुनके हाथसे ही होना था !

अन्तमें शिखण्डीके सामने बाण न चलानेके कारण अर्जुनके बाणोंसे बिंधकर भीष्म शरशय्यापर गिर पड़े। भीष्म वीरोचित शय्यापर सोये थे, उनके सारे शरीरमें बाण बिंधे थे, केवल सिर नीचे लटकता था। उन्होंने तकिया माँगा, दुर्योधनादि नरम-नरम तकिया लाने लगे। भीष्मने अन्तमें अर्जुनसे कहा—'वत्स ! मेरे योग्य तकिया दो।' अर्जुनने शोक रोककर तीन बाण

उनके मस्तकके नीचे इस तरह मारे कि सिर तो ऊँचा उठ गया और वे बाण तकियाका काम देने लगे ! इससे भीष्म बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि—

शयनस्यानुरूपं मे पाण्डवोपहितं त्वया ।
यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा ॥
एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता ।
स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन वै ॥
(महा० भीष्म० १२० । ४८-४९)

अर्थात् 'हे पुत्र अर्जुन ! तुमने मेरी रणशय्याके योग्य ही तकिया देकर मुझे प्रसन्न कर लिया । यदि तुम मेरी बात न समझकर दूसरा तकिया देते तो मैं नाराज होकर तुम्हें शाप दे देता । क्षात्रधर्ममें दृढ़ रहनेवाले क्षत्रियोंको रणाङ्गणमें प्राण-त्याग करनेके लिये इसी प्रकारकी बाणशय्यापर सोना चाहिये ।'

भीष्मजी शरशय्यापर बाणोंसे घायल पड़े थे, यह देखकर अनेक कुशल शस्त्रवैद्य बुलाये गये कि वे बाण निकालकर मरहम-पट्टी करके घावोंको ठीक करें, पर अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णको सामने देखते हुए मृत्युकी प्रतीक्षामें वीरशय्यापर शान्तिसे सोये हुए भीष्मजीने कुछ भी इलाज न कराकर उन्हें सम्मानपूर्वक लौटा दिया । धन्य वीरता और धन्य धीरता !

जिस प्रकार अटल और दृढ़ होकर भीष्मजीने आजन्म अपने सत्य, धर्म और प्रतिज्ञाका पालन किया वह कभी भूलनेवाली बात नहीं है । ऐसे अद्वितीय वीरका सम्मान करनेके लिये

ऋषियोंने नित्य-तर्पणमें भी भीष्मपितामहके लिये जलाञ्जलि देनेका इस प्रकार विशेषरूपसे विधान किया कि—

वैयाघ्रपद्‌गोत्राय साङ्कृतप्रवराय च।
अपुत्राय ददाम्येतज्जलं भीष्माय वर्मणे॥

तर्पणमें क्षत्रिय ही नहीं; ब्राह्मण भी भीष्मपितामहको जलाञ्जलि देते हैं। वास्तवमें यह तर्पण करना भीष्मपितामहकी ओर भारतके लोगोंका सदाके लिये उनकी याद बनाये रखना है।

भीष्मजीका वह शरीर गया, परन्तु जबतक भारतका नाम है जबतक भीष्मपितामहकी अलौकिक दिव्य वाणीसे भरे हुए महाभारतके शान्ति और अनुशासनपर्व उपलब्ध होते हैं तबतक उनकी अक्षय अमरता कभी मिट नहीं सकती। भारतवासियोंको उनके दिव्य उपदेशोंसे पूरी तरह लाभ उठाकर अपने जीवनको निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌की सेवामें लगाकर सफल करना चाहिये।

आठ दिनोंके बाद युद्ध समाप्त हो गया। धर्मराजका राज्याभिषेक हुआ। एक दिन युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके पास गये और दोनों हाथ जोड़कर पलंगके पास खड़े हो गये, प्रणाम करके मुसकराते हुए युधिष्ठिरने भगवान्‌से कुशल-क्षेम पूछा, परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। भगवान्‌को इतना ध्यानमग्न देखकर धर्मराज बोले—'प्रभो! आप किसका ध्यान करते हैं? मुझे बतलाइये, मैं आपके शरणागत हूँ, भक्त हूँ।' भगवान्‌ने उत्तर दिया—'धर्मराज शरशय्यापर सोते हुए नरशार्दूल भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, उन्हों

मुझे स्मरण किया था इसलिये मैं भीष्मका ध्यान कर रहा था। भाई ! इस समय मैं मनद्वारा भीष्मके पास गया था !'

फिर भगवान्‌ने कहा कि युधिष्ठिर ! वेद और धर्मके सर्वोपरि ज्ञाता नैष्ठिक ब्रह्मचारी महान् अनुभवी कुरुकुलसूर्य पितामहके अस्त होते ही जगत्‌का ज्ञानसूर्य भी निस्तेज हो जायेगा। अतएव वहाँ चलकर कुछ उपदेश ग्रहण करना हो तो कर लो।'

युधिष्ठिर श्रीकृष्णमहाराजको साथ लेकर भीष्मके पास गये। सब बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनि वहाँ उपस्थित थे। भीष्मने भगवान्‌को देखकर प्रणाम और स्तवन किया। श्रीकृष्णने भीष्मसे कहा कि 'उत्तरायण आनेमें अभी तीस दिनकी देर है, इतनेमें आपने धर्मशास्त्रका जो ज्ञान सम्पादन किया है वह युधिष्ठिरको सुनाकर इनके शोकको दूर कीजिये।' भीष्मने कहा—'प्रभो ! मेरा शरीर बाणोंके घावोंसे व्याकुल हो रहा है, मन-बुद्धि चञ्चल हैं, बोलनेकी शक्ति नहीं है, बारंबार मूर्च्छा आती है, केवल आपकी कृपासे ही अबतक जी रहा हूँ, फिर आप जगद्गुरुके सामने मैं शिष्य यदि कुछ कहूँ तो वह भी अविनय ही है। मुझसे बोला नहीं जाता, क्षमा करें।' प्रेमसे छलकती हुई आँखोंसे भगवान् गद्गद होकर बोले—भीष्म ! तुम्हारी ग्लानि, मूर्च्छा, दाह, व्यथा, क्षुधा, क्लेश और मोह सब मेरी कृपासे अभी नष्ट हो जायँगे, तुम्हारे अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञानकी स्फुरणा होगी, तुम्हारी बुद्धि निश्चयात्मिका हो जायगी, तुम्हारा मन नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर हो जायगा, तुम धर्म या जिस किसी भी विद्याका

चिन्तन करोगे, उसीको तुम्हारी बुद्धि बताने लगेगी।' श्रीकृष्णने फिर कहा कि, 'मैं स्वयं इसीलिये उपदेश न करके तुमसे करवाता हूँ जिससे मेरे भक्तकी कीर्ति और यश बढ़े।' भगवत्-प्रसादसे भीष्मके शरीरकी सारी वेदनाएँ उसी समय नष्ट हो गयीं, उनका अन्तःकरण सावधान और बुद्धि सर्वथा जाग्रत् हो गयी।

ब्रह्मचर्य, अनुभव, ज्ञान और भगवद्भक्तिके प्रतापसे अगाध ज्ञानी भीष्म जिस प्रकार दस दिनोंतक रणमें तरुण उत्साहसे झूमे थे, उसी प्रकारके उत्साहसे युधिष्ठिरको अपने धर्मके सब अङ्गोंका पूरी तरह उपदेश दिया। और उनके शोक-संतप्त हृदयको शान्त कर दिया। इस प्रकार भगवान्‌के सामने, ऋषियोंके समूहसे घिरे हुए धर्मचर्चा करते-करते जब उत्तम उत्तरायणकाल आया तो भीष्मजी मौन हो गये और उन्होंने पीताम्बरधारी भगवान् श्रीकृष्णमें पूरी तरह मन लगा दिया और उनकी स्तुति करने लगे—

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः॥
त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥
युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलंकृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु॥
व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या।
कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु॥

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः॥
शितविशिखहतो विशीर्णदंशः क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥
विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोर्यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम्॥
ललितगतिविलासवल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः॥
मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम्।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा॥
तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥

(श्रीमद्भा० १।९।३२–४२)

अर्थात् 'मैंने इस तरह उन यादवपुङ्गव एवं सर्वश्रेष्ठ, भगवान् श्रीकृष्णमें कामनारहित बुद्धि अर्पित कर दी है, जिस आनन्दमय ब्रह्मसे प्रकृतिका संयोग होनेपर यह संसार चलता है ॥३२॥ त्रिभुवन-सुन्दर एवं तमाल-तरुके समान श्यामशरीर और सूर्यकिरणके-से गौरवर्ण सुन्दर वस्त्रको धारण किये और अलकावलिसे आवृत सुशोभित मुख-कमलवाले अर्जुनके मित्र श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम भक्ति हो ॥ ३३ ॥ युद्धमें घोड़ोंकी रज पड़नेसे धूम्रवर्ण एवं चञ्चल अलकावली और श्रमजनित प्रस्वेद-बिन्दुओंसे अलंकृत है मुख जिनका, और मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे कवच कट जानेपर भिन्न हो रही

है त्वचा जिनकी ऐसे भगवान् श्रीकृष्णमें मेरा मन रमण करे ॥३४॥ सखाके कहनेंपर शीघ्र ही अपनी-परायी दोनों सेनाओंके बीचमें रथ स्थापित करके शत्रुपक्षकी सेनाके वीरोंकी आयु उनकी ओर देखकर ही जिन्होंने हर ली उन अर्जुनके मित्र श्रीकृष्णमें मेरा मन रमे ॥ ३५ ॥ सम्मुख स्थित शत्रुसेनामें आगे स्वजनोंको मरने-मारने पर उद्यत देखकर जब अर्जुन स्वजन-वधको दोष समझकर धनुष-बाण त्याग कर स्वजन-वधसे निवृत्त हो गये, तब जिन्होंने आत्मज्ञानका उपदेश करके अर्जुनकी कुबुद्धिको हर लिया उन परमेश्वर श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें मेरी रति हो ॥ ३६ ॥ युद्धमें 'मैं शस्त्र नहीं ग्रहण करूँगा' अपनी इस प्रतिज्ञाको असत्य कर 'मैं श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण करा दूँगा' मेरी इस प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये रथसे कूदकर रथका चक्का हाथमें लेकर जो मुझे मारनेको इस तरह वेगसे दौड़े जैसे हाथीको मारनेके लिये सिंह दौड़ता है तब पृथ्वी उनके प्रतिपदमें काँपने लगी और कन्धेसे दुपटा गिर गया, वैसे शोभाको प्राप्त हुए उन श्रीकृष्णकी मैं शरण हूँ ॥ ३७ ॥ मेरे पैने बाणोंके प्रहारसे कवच टूट गया और श्यामसुन्दर-शरीर रुधिरसे लाल हो गया तब जो मुझ सशस्त्रके मारनेके लिये वेगसे दौड़े वे भक्तवत्सल भगवान् मेरी गति हों ॥ ३८ ॥ अर्जुनके रथपर स्थित होकर एक हाथसे चाबुक उठाये और एक हाथसे घोड़ोंकी लगाम पकड़े जो दर्शनीय शोभायुक्त श्रीकृष्णभगवान् हैं उनमें मुझ मरनेवालेकी रति हो; जिस छविको देखकर महाभारत-युद्धमें मरे हुए सब शूरवीर सारूप्यमुक्तिको प्राप्त हुए ॥ ३९ ॥ अपनी ललित गति, विलास, मनोहर हास, प्रेममय निरीक्षण आदिसे गोपियों

मान करनेपर जब श्रीकृष्णजी अन्तर्हित हो गये तब विरहसे व्याकुल गोपियाँ भी जिनकी लीलाका अनुकरण करके तन्मय हो गयीं, ऐसे भक्तिसे प्राप्त होनेवाले श्रीकृष्णमें मेरी दृढ़ भक्ति हो ॥४०॥ युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें अनेक ऋषि-मुनि और महिपालोंसे सुशोभित सभाभवनके बीच प्रथम जिनकी पूजा हुई वही सर्वश्रेष्ठ जगत्पूज्य परब्रह्म इस समय मेरे नेत्रोंके सामने हैं। अहोभाग्य ! मैं कृतार्थ हो गया ॥ ४१ ॥ अब जन्म-कर्मरहित और अपने ही उत्पन्न किये प्राणियोंके हृदयमें जो एक होकर भी अनेक पात्रोंमें पड़े हुए प्रतिबिम्बद्वारा अनेक रूप प्रतीत होनेवाले सूर्यकी भाँति अनेक रूप प्रतीत होते हैं उन ईश्वर श्रीकृष्णको भेददृष्टि और मोहसे शून्य चित्तद्वारा मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥ ४२ ॥

एक सौ पैंतीस वर्षकी अवस्थामें उत्तरायणके समय सैकड़ों ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनियोंके बीचमें इस प्रकार साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए—

> कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः ।
> आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत् ॥
>
> (श्रीमद्भा० १ । ९ । ४३)

'आत्मरूप भगवान् श्रीकृष्णमें मन, वाणी और दृष्टिको स्थिर करके भीष्मजी परम शान्तिको प्राप्त हो गये !'

———

पाण्डव अर्जुन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

(महाभारत)

भगवान् नारायण और वागीश्वरी शारदाके साथ ही नरोत्तम नर अर्जुनको प्रणाम करके भगवान् व्यास ग्रन्थारम्भ करते हैं, इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि भक्तश्रेष्ठ वीरवर अर्जुन किस श्रेणीके महापुरुष थे। कौरवोंको समझाते हुए पितामह भीष्म कहते हैं—

एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥

(महा० उद्योग० ४९। २०)

'श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर हैं, एक ही सत्त्व दो रूपमें प्रकट हुए हैं।' अधिक क्या, गीतामें भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे *'पाण्डवानां धनंजयः'* (१० । ३७) कहकर अर्जुनको अपना स्वरूप घोषित किया है, अतएव अर्जुनकी महिमाको मुझ-सरीखा मनुष्य क्या समझे और क्या कहे। परन्तु उनके जीवनकी बातोंके स्मरणसे हृदय पवित्र होता है, इसी कारण उनके विषयमें कुछ लिखा जाता है।

भक्तवर अर्जुन पाँचों पाण्डवोंमें बिचले भाई थे। ये इन्द्रसे उत्पन्न तथा नर भगवान्‌के अवतार थे। महाभारतके पात्रोंमें अर्जुन सबसे प्रधान थे। भगवान् श्रीकृष्णके समवयस्क और सखा थे।

अर्जुनका वर्ण भी श्रीकृष्णकी भाँति श्याम और चित्ताकर्षक था। ये महान् शूरवीर, धीर, दयालु, उदार, न्यायशील, निष्पाप, चतुर, दृढ़प्रतिज्ञ, सत्यप्रिय, आचार्य और गुरुजनोंके भक्त, बुद्धिमान्, विद्वान्, जितेन्द्रिय, ज्ञानी और भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। भगवान्‌की भक्तिका उनके लिये सबसे बड़ा यही प्रमाण है कि जिस गीताशास्त्रके अध्ययन और विचारसे अबतक अगणित साधक परम सिद्धिको प्राप्त कर चुके हैं, जो गीताशास्त्र सहस्रों साधु-महात्माओंको परमात्माका पवित्र पथ दिखलानेके लिये उनका पथ-प्रदर्शक और परम धामतक पहुँचा देनेके लिये परम पाथेय बन रहा है उस गीतामृतके पान करनेका सबसे पहला अधिकारी यदि कोई हुआ तो वह अर्जुन ही हुए। उस समय अनेक ऋषि-मुनि तथा भीष्म-युधिष्ठिर-सरीखे राजर्षियोंकी कमी नहीं थी, परन्तु भगवान्‌ने गीता सुनानेके लिये अपने अन्तरङ्ग सखा और परम श्रद्धालु अर्जुनको ही चुना। इसीसे अर्जुनका भगवान्‌में परम प्रेम होना सिद्ध हो जाता है।

जिस समय दुर्योधन भगवान् श्रीकृष्णके महलमें युद्धमें सहायता माँगने गये, उस समय भगवान् सो रहे थे। दुर्योधन उनके सिरहाने एक आसनपर बैठ गये, पीछेसे अर्जुन पहुँचे, वे नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर श्रीकृष्णके चरणोंमें बैठ गये। श्रीकृष्णने जागनेपर पहले सामने बैठे हुए अर्जुनको और पीछे दुर्योधनको देखा। उन्होंने दोनोंका स्वागत-सत्कार किया। दुर्योधनने कहा, 'युद्धमें आपकी सहायता माँगनेके लिये पहले मैं आया हूँ, अर्जुन पीछे आया है, आप मेरी तरफ ही आवें।' इसपर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'दुर्योधन! आप पहले आये यह यथार्थ है, पर मैंने पहले

अर्जुनको देखा; इसलिये मैं दोनोंकी सहायता करूँगा। बात
है, सामने चरणोंमें बैठा हुआ ही पहले दीख पड़ता है, सिर
बैठा हुआ नहीं। मतलब यह कि सबको नम्रतापूर्वक भगवान्
सम्मुख ही होना चाहिये, न कि ऐंठकर उनके सिर चढ़ना!

भगवान्ने कहा कि 'एक ओर तो मेरे समस्त यादव
सशस्त्र सहायता करेंगे और दूसरी ओर मैं अकेला रहूँगा, पर
मैं न तो शस्त्र ग्रहण करूँगा और न युद्ध करूँगा। जिसकी
इच्छा हो सो माँग ले। पर दोनोंमेंसे एक चीज माँग लेनेका पह
अधिकार अर्जुनका है, क्योंकि मैंने पहले उसे ही देखा
परीक्षाका समय है।' एक ओर भगवान्का बल—ऐश्वर्य
दूसरी ओर स्वयं शस्त्रहीन भगवान् हैं। भोग चाहनेवाला म
भगवान्को और भगवान्को चाहनेवाला भोगको नहीं चाहता
अर्जुन भगवान्के प्रेमी थे, भोगके नहीं। उन्होंने कहा, 'अ
श्रीकृष्ण ही मेरे सर्वस्व हैं, वे ही मेरी सहायता करें।' परी
अर्जुन उत्तीर्ण हो गये। भोगबुद्धिवाले दुर्योधनने सोचा, '
अच्छा हुआ जो अर्जुनने निःशस्त्र और युद्धविमुख कृष्णको
लिया और मुझे यादव योद्धा मिल गये।' अर्जुनको युद्ध करने
वीरोंकी कम आवश्यकता थी सो बात नहीं है, परन्तु उन
वीरोंको अपेक्षा अकेले श्रीकृष्णकी कीमत बहुत अधिक स
इसी प्रकार जो भोगोंकी अपेक्षा भगवान्की कीमत अधिक स
हैं,—भगवान्के लिये बड़े-से-बड़े भोगोंका त्याग करनेके लिये
प्रस्तुत रहते हैं, वे ही भगवान्के सच्चे भक्त हैं और उन्हें
भगवान् मिलते हैं। इसीलिये भगवान्ने अर्जुनके रथकी
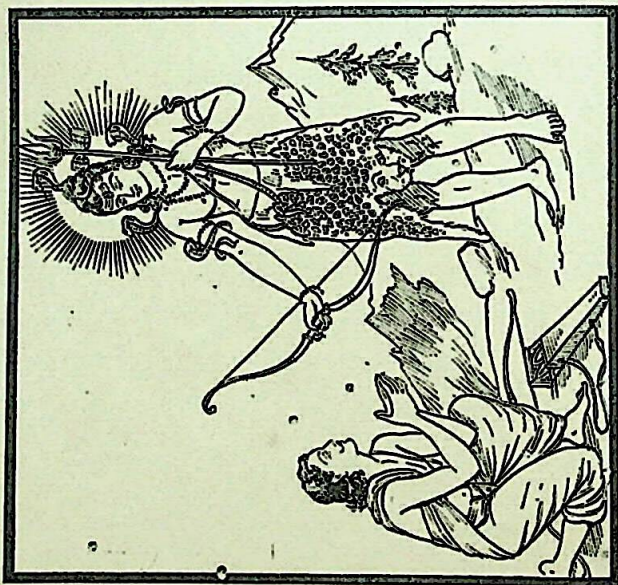
अर्जुनको पाशुपतास्त्रकी प्राप्ति
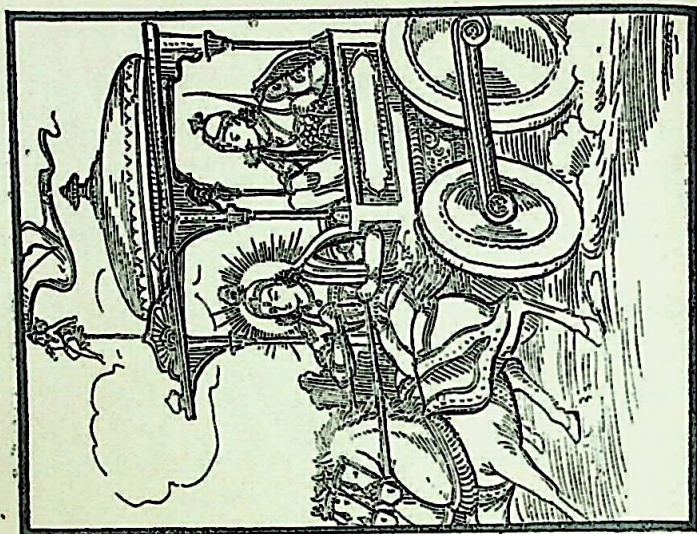
अर्जुन और उनके सारथि श्रीकृष्ण

हाथमें लेकर निःसंकोच सारथिका क्षुद्र कार्य किया, पर यदि भगवान् इस ओर न आते, रथ न हाँकते तो महाभारतका इतिहास दूसरी ही तरह लिखा जाता। फिर संजय यह नहीं कह सकते कि '*यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥*' (*गीता १८।७८*) और न जगत्का उद्धार करनेवाली गीता ही आज हमें मिलती। यह अर्जुनकी भक्तिका ही परिणाम समझना चाहिये। अर्जुन-सरीखे वत्स मिलनेपर ही श्रुतिरूप गौ दुही जा सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि गीता-जैसी महान् सम्पत्ति अर्जुनके कारण जगत्को मिली, इसलिये समस्त जगत्को सदाके लिये अर्जुनका कृतज्ञ होना चाहिये।

अर्जुनमें महापुरुषोंके सब गुण मौजूद थे, गुरु-दक्षिणाके लिये अर्जुनने द्रुपदका दर्प चूर्ण किया, बड़े भाईके सम्मानके लिये अर्जुनने युधिष्ठिरकी सब बातें मानीं, राजधर्म और सत्यताके पालनके लिये अर्जुनने बारह वर्षका देशनिकाला स्वयं माँगकर लिया।

माताकी आज्ञा और पूर्वजन्मके कई शाप-वरदानोंके कारण देवी द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंके साथ हुआ। इसके कुछ काल बाद नारद मुनि पाण्डवोंके पास आये और उन्होंने तिलोत्तमा अप्सराके कारण सुन्द-उपसुन्द नामक दो राक्षस-भ्राताओंके परस्पर लड़कर नष्ट हो जानेका इतिहास सुनाकर यह कहा कि 'तुम पाँचों भाइयोंके एक ही स्त्री होनेके कारण कहीं आपसमें वैमनस्य होकर सबका नाश न हो जाय इसलिये तुमलोगोंको एक ऐसा नियम बना लेना चाहिये जिससे कभी वैमनस्यकी सम्भावना ही न रहे।'

इसपर नारदजीकी सम्मतिसे पाँचों भाइयोंने मिलकर यह नियम बनाया कि 'प्रत्येक भाई दो महीने बारह दिनके क्रमसे द्रौपदीके पास जायँ । यदि कोई भाई बीचमें द्रौपदीके साथ एकान्तमें दूसरे भाईको देख ले तो बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार करे ।'

पाँचों भाई इसी नियमके अनुसार बर्ताव करते रहे। एक दिन एक ब्राह्मणकी गायें चोरोंने चुरा लीं। ब्राह्मण यह चिल्लाते हुए राजमहलके आसपास घूम रहा था कि 'चोरको सजा देकर मेरी गायें ढूँढ़ दो ।' किसीने जब कोई उत्तर न दिया तब ब्राह्मणने यह कहा कि 'जो राजा प्रजासे उसकी आमदनीका छठा भाग लेकर भी उसकी रक्षा नहीं करता, वह अत्यन्त पापाचारी है ।' आजकलकी-सी बात होती तो ब्राह्मणको अवश्य कारागारकी हवा खानी पड़ती, पर पाण्डव राजधर्मसे परिचित थे, इसलिये ऐसा न हो सका । अर्जुनने ब्राह्मणकी पुकार सुनते ही उसे आश्वासन दिया और हथियार लानेके लिये वे अंदर जाने लगे। पीछे जब यह पता लगा कि महाराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्तमें हैं तब वे विचार करने लगे कि 'अब क्या करना चाहिये, अंदर जानेसे नियम टूटता है और फलतः बारह वर्षके लिये राज्यसे निर्वासित होना पड़ता है। ऐसा न करनेसे क्षत्रियधर्म और प्रजा-पालनमें बाधा आती है ।' अन्तमें अर्जुन यह निश्चय करके अंदर चले गये 'चाहे महाराजका अनादर हो, मुझे अधर्म हो, मेरा वनगमन या मरण हो पर प्रजापालनरूपी राजधर्मको कभी नहीं छोड़ूँगा, क्योंकि शरीर छूटनेपर भी धर्म बना रहता है ।'

भीतरसे शस्त्र लाकर अर्जुनने लुटेरोंका पीछाकर उन्हें योग्य दण्ड दिया और उनसे गायें छुड़ाकर ब्राह्मणको प्रदान कीं ।

राजधर्मपालनके लिये जो घरका नियम तोड़ा अब उसका दण्ड भी तो भोगना चाहिये। अर्जुनने आकर धर्मराजसे कहा, 'मैंने द्रौपदीके साथ एकान्तमें आपको देखकर नियम तोड़ दिया है, इसलिये मुझे बारह वर्षके लिये वन जानेकी आज्ञा दीजिये।' धर्मराजने अर्जुनको बहुत समझाया; परन्तु धर्मके प्रतिकूल राज्यसुख भोगना अर्जुनने उचित नहीं समझा और धर्मराजसे कहा—

न व्याजेन चरेद् धर्ममिति मे भवतः श्रुतम्।
न सत्याद् विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे॥

'महाराज! आपहीसे तो मैंने सुना है कि धर्मपालनमें बहानेबाजी कभी नहीं करनी चाहिये। मैंने सत्यहीसे शस्त्र प्राप्त किये हैं, अतः मैं सत्यसे विचलित नहीं हो सकता।' युधिष्ठिरके वचनोंसे लाभ उठाकर अर्जुनने अपना मन सत्यसे नहीं डिगने दिया और युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर वे तुरंत वनमें चले गये। धर्मपालन और सत्यपरायणताका कैसा सुन्दर उदाहरण है। अब एक जितेन्द्रियताका अद्भुत प्रमाण देखिये।

अर्जुनने भगवान् महादेवजीसे युद्ध करके उन्हें प्रसन्न कर उनसे अमोघ 'पाशुपत' के धारण, मोक्ष और संहारकी क्रिया सीखी, तदनन्तर यम, वरुण, कुबेर आदि लोकपालोंको प्रसन्नकर उनसे क्रमशः गदा, पाश और अन्तर्धान तथा प्रस्तापन नामक अस्त्र ग्रहण किये। इतनेहीमें अर्जुनको बुलानेके लिये देवराज इन्द्रका सारथि मातलि रथ लेकर वहाँ आ गया और अर्जुन उसपर बैठकर आकाशमार्गसे भिन्न-भिन्न विचित्र लोकोंको देखते हुए सदेह स्वर्ग

पहुँचे। वहाँ पाँच साल रहकर अर्जुनने दिव्य शस्त्रास्त्र प्राप्त किये और चित्रसेन गन्धर्वसे गाने-बजाने और नाचनेकी कला सीखी।

एक दिन इन्द्र-सभामें स्वर्गीय अप्सराओंका नाच-गान हो रहा था; महावीर अर्जुन इन्द्रके साथ सिंहासनपर बैठे हुए थे। इन्द्रने देखा; 'अर्जुनकी दृष्टि लगातार उर्वशीपर पड़ रही है।' अर्जुनको प्रसन्न करनेके लिये इन्द्रने एकान्तमें चित्रसेनसे कह दिया कि तुम उर्वशीको समझा दो कि वह आज रातको अर्जुनके पास जाय। चित्रसेनने इन्द्रका सन्देशा उर्वशीको अकेलेमें कह दिया। अर्जुनके श्यामसुन्दर, अत्यन्त तेजस्वी तथा मनोहर वदन, उसकी मत्तगजेन्द्रकी-सी चाल, सिंहके-से उन्नत स्कन्ध, कमलपत्र-से विशाल नेत्र, तत्त्ववेत्ताकी-सी मधुर तथा नम्र वाणी और विष्णुका-सा पराक्रम देखकर उर्वशी पहलेसे ही उसपर मोहित थी। उसने इन्द्रका सन्देशा बड़ी प्रसन्नताके साथ स्वीकार किया। उसी दिन रातको दिव्य चाँदनीमें मुनि-मन हरण करनेवाली उर्वशी सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित होकर एकान्तमें अर्जुनके महलपर गयी। अर्जुन इतनी रातको अपने शयनागारमें सजी-धजी उर्वशीको देखकर बड़े लज्जित हुए और मस्तक अवनत करके पूज्यभावसे उसका बड़ा स्वागत किया। उर्वशीने इन्द्रका सन्देशा सुनाकर अपना मनोरथ पूर्ण करनेके लिये अर्जुनसे विनयपूर्वक प्रार्थना की। परन्तु इससे जितेन्द्रिय अर्जुनके मनमें कोई क्षोभ या विकार नहीं हुआ। अर्जुनने कहा—'माता! आप हमारे पुरुवंशके पूर्वज महाराज पुरूरवाकी भार्या हैं; भरतकुलकी जननी हैं, इसीलिये मैंने राजसभामें आपकी ओर मातृभावसे देखकर मन-ही-मन प्रणाम

किया था । देवराजने समझनेमें भूल की है । आप क्षमा करें, कृपापूर्वक जैसे आयी हैं वैसे ही वापस लौट जायँ, मैं आपको नमस्कार करता हूँ, मुझ अपने बालकसे आप ऐसी नरकप्रद बात न कहें !' इसपर उर्वशी बोली—'हे सुन्दर ! पुरूरवाके बाद उसी वंशके स्वर्गमें आनेवाले सभी राजाओंने हम अप्सराओंका भोग किया है, अप्सराओंका भोग ही तो स्वर्गका सुख है ।' उर्वशीने अर्जुनका मन अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये नाना प्रकारसे चेष्टा की, परन्तु अर्जुन अटल और अचल रहे । और बोले—

> शृणु सत्यं वरारोहे यत्त्वां वक्ष्याम्यनिन्दिते ।
> शृण्वन्तु मे दिशश्चैव विदिशश्च सदेवताः ॥
> यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
> तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥
> गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
> त्वं हि मे मातृवत्पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया ॥
>
> (महा० वन० ४६ । ४५–४७)

'हे देवि ! मैं जो सत्य कहता हूँ सो सुनो, साथ ही सारी दिशाएँ और उनके देवतागण भी सुनें । हे वंशजननी ! आप मेरे लिये कुन्ती, माद्री और शचीमाताके समान पूजनीया हैं, अपना पुत्र समझकर आप माताकी तरह मेरी रक्षा करें, मैं आपके चरणोंमें सिरसे प्रणाम करता हूँ ।' अर्जुनके इन वचनोंको सुनकर उर्वशीको बहुत क्षोभ हुआ और अर्जुनको यह शाप देकर, 'तू एक वर्षतक

नपुंसक होकर नाचना-गाना सिखाता रहेगा। लोग तुझको पुरुष नहीं बतावेंगे।' वह चली गयी। अर्जुनने शाप सहन कर लिया; परन्तु अपने ब्रह्मचर्य-व्रतसे वह तनिक भी नहीं डिगे। अर्जुन-सरीखे देव-पूजित वीर युवकके सामने इन्द्रप्रेरित स्वर्गकी असामान्य सुन्दरी उर्वशी सज-धजकर रातको एकान्तमें उपस्थित हो गिड़गिड़ाकर काम-भिक्षा माँगे, जिसपर उस युवकके मनमें रत्तीभर भी कामका विकार न हो, यह कोई साधारण बात नहीं है। परमहंस रामकृष्ण कहा करते कि 'सभाओंमें त्यागी सजनेवाले असली त्यागी नहीं हैं, त्यागी वह है जो जनशून्य एकान्त स्थानमें युवती स्त्रीको माँ कहकर वहाँसे अछूता निकल जाय।' अर्जुनका आचरण तो इससे भी ऊँचा है। यही तो भक्तका लक्षण है। स्वाँग धारण करने या मुँहसे लच्छेदार बातें करनेसे ही कोई भक्त नहीं हो जाता, भक्तको अपने मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। भगवान् इतने भोले नहीं थे कि वे हर किसी राजपुत्रके घोड़े हाँकने या उनके यज्ञमें चाकरी करनेको तैयार हो जाते। अर्जुनके महान् त्याग और सच्चे प्रेमने ही उनको आकर्षित कर लिया था। हा! कहाँ तो अर्जुन-सदृश त्यागी भक्त, कहाँ आज पर-स्त्री और पर-धन अपहरण करनेके लिये भक्तिका स्वाँग धारण करनेवाले पाखण्डी! भक्त बनना चाहनेवाले पुरुषको अर्जुनके इस महान् आचरणसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अस्तु!

अर्जुनके पास दिव्य देवास्त्र थे, परन्तु शत्रुओंपर वे उनका सामर्थ्य देखकर मानवी अस्त्रोंका ही प्रयोग किया करते। कहा जाता है कि शंकरके पाशुपत-अस्त्रका उन्होंने महाभारतमें कभी प्रयोग नहीं

किया । महान् बलवान् होनेपर भी वे उजड्ड नहीं थे । अर्जुनकी भक्ति, सभ्यता, गम्भीरता, बुद्धिमत्ता और प्रतिभाने उनके दिग्दिगन्त-व्यापी शौर्यके साथ मिलकर सोनेमें सुगन्धका काम किया था । अपने गुणोंके कारण ही अर्जुनने दस नाम प्राप्त किये थे । भगवान् श्रीकृष्णपर अटल विश्वास होनेके कारण बड़े-बड़े विकट प्रसंगोंमें भगवान्ने उनको बचाया और हर तरहसे उनका गौरव बढ़ानेकी क्रियाएँ की थीं ! कुछ उदाहरण देखिये—

(१)

द्वारकामें एक ब्राह्मण रहता था। उसके घर पुत्र हुआ और होते ही मर गया । ब्राह्मण मृत पुत्रकी लाशको लेकर राजद्वारपर आया और उसे वहाँ रखकर कातरस्वरसे रोता हुआ कहने लगा—'ब्राह्मणद्रोही, शठबुद्धि, लोभी, विषयी, क्षत्रियाधम राजाके कर्मदोषसे ही मेरा बालक मर गया है ।' क्योंकि—

हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम् ।
प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ८९ । २५)

'जब राजा हिंसामें रत, दुश्चरित्र और अजितेन्द्रिय होता है, तभी प्रजाको दरिद्रता और अनेक प्रकारके दुःखोंसे नित्य पीड़ित रहना पड़ता है ।' यों कहकर लाशको वहीं छोड़ वह ब्राह्मण चला गया । कहना नहीं होगा, ब्राह्मणपर राजद्रोहका मामला नहीं चलाया गया था । इस प्रकार उस ब्राह्मणके आठ बालक मर गये और वह उनकी लाशोंको राजद्वारपर छोड़ गया । यादवोंने

अनेक उपाय भी किये, परन्तु कोई भी उपाय नहीं चला। नवें पुत्रकी लाशको लेकर जिस दिन ब्राह्मण राजसभामें गया, उस दिन वहाँ दैवात् अर्जुन आये हुए थे। अर्जुनने कहा—'देव! आप क्यों रो रहे हैं, क्या यहाँ कोई भी वीर क्षत्रिय नहीं है जो आप ब्राह्मणोंको पुत्र-शोकसे बचावे। जिन राजाओंके जीवित रहते राज्यमें यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण धन, स्त्री, पुत्र आदिके वियोगमें दुखी रहते हैं, वे राजा नहीं वे तो पेट पालनेवाले और विषय भोगनेवाले राजवेषी भाँड़ हैं। आपके पुत्रोंकी रक्षा मैं करूँगा और यदि न कर सकूँगा तो स्वयं अग्निमें जल मरूँगा।' ब्राह्मणने कहा—'भगवान् संकर्षण, भगवान् वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नहीं बचा सके, तब तुम क्योंकर बचाओगे?' अर्जुनने अभिमानसे कहा—'मैं संकर्षण, कृष्ण, प्रद्युम्न या अनिरुद्ध नहीं हूँ। मैं तो श्रीकृष्णका भक्त हूँ, जो काम श्रीकृष्ण नहीं कर सकते, वह मैं उन्हींके बलपर कर सकता हूँ, क्योंकि मेरे लिये उन्हें अपनी मर्यादासे परे भी काम करने पड़ते हैं। मैं गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हूँ। मृत्युको भी जीतकर बालकको ले आऊँगा।' भगवान् कुछ नहीं बोले, वे मुसकरा दिये और मन-ही-मन उन्होंने भविष्यकी लीलाका प्रोग्राम भी निश्चित कर लिया। ब्राह्मणीके बालक-प्रसवका समय आया। समाचार मिलते ही अर्जुनने हाथ-पैर धो, गाण्डीव धनुषको चढ़ाकर दिव्य अस्त्रोंका स्मरण किया और बाणोंसे सूतिका-भवनको ढँक दिया। ऐसा पिंजर-सा बना दिया कि उसके अंदर किसीका भी प्रवेश नहीं हो सकता। हरिकी लीला विचित्र है, ब्राह्मणीके बालक हुआ और बारंबार रोता हुआ

वह उसी क्षण अदृश्य हो गया। ब्राह्मण दुखित हो श्रीकृष्णके पास जाकर कहने लगा—'मेरी मूर्खताका भी कोई ठिकाना है, जो मैंने उस कायर अर्जुनकी आत्मप्रशंसापूर्ण बातका विश्वास कर लिया ! मिथ्यावादी और अपने ही मुखसे अपने पराक्रम और धनुषकी झूठी प्रशंसा करनेवाले अर्जुनको धिक्कार है !' अर्जुन पास ही बैठे थे। अब भी उनमें अहंकार था। वे भगवान्से कुछ न बोले और तुरंत अपनी योगविद्यासे यमपुरी गये। वहाँ ब्राह्मणपुत्रको न देखकर इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, चन्द्र, वायु, वरुण आदि लोकपालोंके लोकोंमें तथा अतल, रसातल और स्वर्गके ऊपर सातों लोकोंमें तथा और अनेक स्थानोंमें घूमे, परन्तु कहीं बालकका पता नहीं लगा; तब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार वे चिता बनाकर उसमें जलनेको तैयार हो गये। अब भगवान्से नहीं रहा गया। उन्होंने जाकर अर्जुनको रोक लिया और कहने लगे—

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना।
ये ते नः कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति॥
(श्रीमद्भा० १०। ८९। ४६)

'मित्र ! यों अपनेको अशक्त समझकर अपना अनादर न करो, (तुमने अभी अपनी पूरी शक्तिका उपयोग ही कहाँ किया है ? मैं तुम्हारा दूसरा रूप—तुम्हारा अन्तरङ्ग सखा तो अभी मौजूद हूँ) चलो, मैं तुम्हें ब्राह्मणके मरे हुए दसों पुत्रोंको दिखलाऊँ। इससे समस्त विश्वमें हमलोगोंकी कीर्ति छा जायगी।'

अर्जुनका दर्प चूर्ण करना उनके हितके लिये आवश्यक था, सो कर दिया, परन्तु उन्हें मरने कैसे देते ? भगवान्‌ने उनको साथ लिया और दिव्य रथपर सवार हो पश्चिमकी ओर चले। पर्वतोंसे युक्त सातों द्वीप और समुद्रोंको लाँघकर लोकालोक पहाड़के परली तरफ अन्धकारमय प्रदेशमें जा पहुँचे। वहाँ उनके रथके शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक घोड़े भटकने लगे। तब 'महायोगेश्वरेश्वर' भगवान्‌ने अपना सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशमय सुदर्शनचक्र आगे कर दिया। उसके प्रकाशमें रथ आगे बढ़ा। अन्धकारके उस पार पहुँचकर अर्जुनने देखा कि अपार सूर्योंकी-सी महान् ज्योति चारों ओर फैल रही है। उस श्रेष्ठ परम ज्योतिकी ओर अर्जुनकी दृष्टि नहीं ठहर सकी और उन्होंने दोनों आँखें मूँद लीं। इसके बाद वे एक अनन्त जलके समुद्रमें घुसे। वहाँ देखा कि एक अत्यन्त प्रकाशयुक्त मन्दिर है, उसमें अत्यन्त प्रकाशमयी मणियाँ जड़ी हैं और सोनेके हजारों खंभे हैं। मन्दिरके अंदर श्वेत पर्वतके समान अत्यन्त अद्भुत शेषनागजी हैं। उनके मस्तकोंपर स्थित महामणियोंकी प्रभासे प्रकाशित हुए हजार फण फैले हुए हैं। उनके दो हजार नेत्र हैं और गले तथा जीभोंका वर्ण नीला है। उन शेषजीकी शय्यापर विभु—महानुभाव पुरुषोत्तम तो सुखसे लेट रहे हैं। उनके नव-नील-नीरद शरीरपर पीताम्बर बिजलीके सदृश शोभित हो रहा है। उनका मुखमण्डल प्रसन्न तथा अरुण नेत्र कमलसदृश विशाल और दर्शनीय हैं। महामणियोंके गुच्छोंसे सुशोभित किरीट-मुकुट और कुण्डलोंकी शोभा छा रही है। भगवान्‌के सुन्दर आठ भुजाएँ हैं और वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है तथा गलेमें कौस्तुभमणि एवं मनोहर वनमाला

सुशोभित है। सुनन्द, नन्द आदि पार्षद तथा चक्र आदि आयुध और पुष्टि, श्री, कीर्ति, माया और आठों सिद्धियाँ शरीर धारण कर भगवान्‌की सेवामें तत्पर हैं। श्रीकृष्ण-अर्जुनने वहाँ पहुँचकर सिर झुकाकर आदरसे आत्मरूप अच्युतको प्रणाम किया। तब विभु भगवान्‌ने कहा—'हे नारायण और नर! मैंने अपने ही स्वरूप तुमलोगोंको देखनेके लिये इन ब्राह्मणके बालकोंको यहाँ मँगवा लिया था। तुम्हारा कार्य हो गया। अब तुम शीघ्र यहाँ आ जाओ। तुम पूर्णकाम हो, मर्यादा-पालनके लिये लोकसंग्रहार्थ ही धर्मका आचरण करते हो।' तदनन्तर श्रीकृष्णार्जुन ब्राह्मण-बालकोंको लेकर लौट आये। द्वारकामें पहुँचकर अर्जुन अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार ब्राह्मणको उसके सब बालक दे दिये। अपने पुत्रोंको पाकर ब्राह्मण अत्यन्त ही प्रसन्न और विस्मित हो गया। इस प्रकार भगवान्‌ने अपने मित्र अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

(२)

लाक्षागृहमें पाण्डवोंके जलनेका समाचार पाकर भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें ढूँढ़ते हुए अन्तमें द्रौपदीके स्वयंवरमें पहुँचे। वहाँ जाते ही उन्होंने ब्राह्मण-वेषधारी अर्जुनको पहचानकर बलरामजीसे बता दिया। आवश्यक सहायता कर विरोधी राजाओंको परास्त कराया और दरिद्रतासे पूर्ण पाण्डवोंको मित्रताके उपहारके नाते अपार धन देकर उन्हें महाधनी बना दिया। महाभारतकार लिखते हैं—

'श्रीकृष्णने भेंटमें वैदूर्य-मणियोंसे जड़े सोनेके गहने, देशी-विदेशी बहुमूल्य वस्त्र, उपवस्त्र, शाल-दुशाले, मृगछाला, चद्दरें, सुन्दर बिछौने,

अनेक प्रकारके रत्न, नाना प्रकारकी बड़ी-बड़ी चौकियाँ, भाँति-भाँतिके विशाल शामियाने, पालकी आदि सवारियाँ, वैदूर्य-मणियों तथा हीरोंसे जड़े हुए विचित्र बरतन, सुन्दर गहनोंसे सजी हुई रूप-यौवन और चतुरतासम्पन्न दासियाँ, सुशिक्षित सुन्दर हाथी, गहनोंसे लदे हुए बढ़िया घोड़ोंसे जुते ध्वजावाले सुवर्णरथ, सोनेकी करोड़ों मोहरें और सुवर्णके ढेर-के-ढेर इस प्रकार अनेक वस्तुएँ प्रदान कीं।'

तदनन्तर राजसूय-यज्ञमें विविध प्रकारसे सहायता कर उसे सफलतापूर्वक सम्पन्न कराया। इस प्रसंगमें भगवान्‌ने हर तरहकी सेवा की, अतिथियोंके पैर धोये और किसी-किसीके मतमें तो जूँठी पत्तलें उठाकर फेंकनेका काम भी आपने किया। यद्यपि सारा ही कार्य भगवान्‌की सहायता और बलसे सम्पन्न हुआ था, परन्तु अपने मित्र अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये दूसरे राजाओंकी भाँति भेंटस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने भी युधिष्ठिरको चौदह हजार बढ़िया हाथी दिये—

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः ॥
अददाद्गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश ।

(महा० सभा० ५२ । ३०-३१)

(३)

चक्रव्यूहमें वीर अभिमन्युको महारथियोंकी सहायतासे जयद्रथने मिलकर मार डाला, तब पाण्डवोंके शिविरमें गहरा शोक छा गया। सुभद्रा और उत्तराका विलाप सुनना सबके लिये असह्य हो गया। मित्र अर्जुनके अनुरोधसे भगवान् श्रीकृष्ण बहिन सुभद्राको समझाने आये। अनेक प्रकारके उपदेश देते हुए उन्होंने कहा—

दिष्ट्या महारथो धीरः पितुस्तुल्यपराक्रमः ।
क्षात्रेण विधिना प्राप्तो वीराभिलषितां गतिम् ॥
जित्वा सुबहुशः शत्रून् प्रेषयित्वा च मृत्यवे ।
गतः पुण्यकृतां लोकान् सर्वकामदुहोऽक्षयान् ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण श्रुतेन प्रज्ञयापि च ।
सन्तो यां गतिमिच्छन्ति तां प्राप्तस्तव पुत्रकः ॥
वीरसूर्वीरपत्नी त्वं वीरजा वीरबान्धवा ।
मा शुचस्तनयं भद्रे गतः स परमां गतिम् ॥

(महा० द्रोणपर्व ७७ । १४–१७)

ये चान्येऽपि कुले सन्ति पुरुषा नो वरानने ।
सर्वे ते तां गतिं यान्तु ह्यभिमन्योर्यशस्विनः ॥

(महा० द्रोणपर्व ७८ । ४१)

'हे बहिन ! तेरा पुत्र धीर, वीर, महारथी अपने पिताके समान बलवान् था । उसने तो वीर क्षत्रियोंकी चिरवाञ्छित उत्तम गति प्राप्त की है । बहुत-से शत्रुओंको पराजित कर उन्हें मृत्युके मुँहमें भेजकर सब कामनाओंके पूर्ण करनेवाले पुण्यवानोंके अक्षय पदको प्राप्त किया है । जिस परम गतिको संतलोग तप, ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और ज्ञानके द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं, तेरे पुत्रको वही गति मिली है । हे बहिन ! तू वीरजननी, वीरपत्नी, वीरपुत्री और वीरभगिनी है, पुत्रके लिये शोक न कर, तेरा पुत्र रणमें मरकर दुर्लभ परम गतिको प्राप्त हुआ है । मैं तो चाहता हूँ कि हमारे कुलमें जितने पुरुष हैं सभी यशस्वी अभिमन्युकी-सी शुभ गतिको

प्राप्त हों ।' तू निश्चय रख, अर्जुन कल जयद्रथको जरूर मार डालेगा ।' भगवान् यों समझाकर चले गये ।

सुभद्रा बोली—'कालकी गति बड़ी ही विचित्र है । जिसके ऊपर श्रीकृष्ण सहायक थे, वही अभिमन्यु आज अनाथकी भाँति मारा गया । परन्तु हे पुत्र ! तुझे वही गति मिले जो यज्ञ करनेवाले दानी, ज्ञानी ब्राह्मण, ब्रह्मचर्यका आचरण करनेवाले, पुण्य तीर्थोंमें स्नान करनेवाले, उपकार माननेवाले, उदार, गुरुसेवक, हजारोंकी दक्षिणा देनेवाले, संग्रामसे न मुड़कर वीर शत्रुओंको मारकर मरनेवाले, सहस्रों गौओंका दान करनेवाले, सामानसहित घर दान करनेवाले, ब्राह्मणों और शरणागतोंको धनकी निधि दे देनेवाले, सर्व-त्यागी, संन्यासी, व्रतधारी, मुनि, पतिव्रता स्त्रियाँ, सदाचारी राजा, चारों आश्रमोंके नियमोंको पालनेवाले, दीनोंपर दया करनेवाले, समान भाग बाँटनेवाले, चुगली न करनेवाले, धर्मशील, अतिथिको निराश न लौटानेवाले, आपत्ति और सङ्कटके समय धैर्य रखनेवाले, माता-पिताके सेवक, अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करनेवाले, परस्त्रीसे बचे रहने-वाले, अपनी स्त्रीसे भी ऋतुकालमें ही समागम करनेवाले, मत्सरता न करनेवाले, क्षमाशील, दूसरोंको चुभनेवाली बात न कहनेवाले, मद्य, मांस, मद, झूठ, दम्भ और अहंकारसे दूर रहनेवाले, दूसरोंका किसी भाँति भी अनिष्ट न करनेवाले, पाप-कार्य करनेमें लज्जित होनेवाले, शास्त्रज्ञ और परमात्मामें ही तृप्त रहनेवाले जितेन्द्रिय साधुओंको मिलती है ।' धन्य माता !

× × × ×

अर्जुनने भगवान्‌के बलपर जयद्रथको मारनेका प्रण करते

हुए कहा कि—'जयद्रथ यदि मेरी या महाराज युधिष्ठिरकी और भगवान् पुरुषोत्तमकी शरण न आया तो कल सूर्यास्तसे पूर्व मैं उसे मार डालूँगा। यदि ऐसा न करूँ तो मुझे वीर तथा पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाले लोक न मिलें। साथ ही मातृ-हत्यारे, पितृ-हत्यारे, गुरु-स्त्रीगामी, चुगलखोर, साधु-निन्दा और पर-निन्दा करनेवाले, धरोहर हड़प जानेवाले, विश्वासघाती, भुक्तपूर्वा स्त्रीको स्वीकार करनेवाले, ब्रह्महत्यारे, गोहत्यारे—इन पापियोंकी गति मुझे मिले, वेदाध्ययनकारी तथा पवित्र व्रतधारी पुरुषोंका अपमान करनेवाले, वृद्ध, साधु और गुरुका तिरस्कार करनेवाले, ब्राह्मण, गौ और अग्निको पैरसे छूनेवाले, जलमें थूकने और मल-मूत्र त्याग करनेवाले, नंगे नहानेवाले, अतिथिको निराश लौटानेवाले, घूसखोर, झूठ बोलनेवाले, ठग, दम्भी, दूसरोंपर दोष लगानेवाले, नौकर, स्त्री, पुत्र और आश्रितको न देकर अकेले ही मीठा खानेवाले, अपने हितकारी आश्रित साधुका पालन न करनेवाले, उपकारीकी निन्दा करनेवाले, निर्दयी, शराबखोर, मर्यादा तोड़नेवाले, कृतघ्न, भरण-पोषणकारीकी निन्दा करनेवाले, बायें हाथसे गोदमें रखकर खानेवाले, धर्मत्यागी, उषाकालमें सोनेवाले, जाड़ेसे डरकर स्नान न करनेवाले, रणसे डरकर भागनेवाले क्षत्रिय, वेदध्वनिसे रहित और एक कुएँके ग्राममें छः मासतक रहनेवाले, शास्त्रकी निन्दा करनेवाले, दिनमें मैथुन करनेवाले, दिनमें सोनेवाले, मकानमें आग लगानेवाले, विष देनेवाले, अग्नि तथा अतिथिसे रहित, गौको जल पीनेसे रोकनेवाले, रजस्वलासे मैथुन करनेवाले, कन्या बेचनेवाले और दान देनेकी प्रतिज्ञा करके

लोभवश न देनेवाले आदि लोगोंको जिन नरकोंकी प्राप्ति होती है वही मुझे भी मिले।* इसके सिवा मैं यह भी प्रण करता हूँ कि यदि जयद्रथको मारे बिना ही कल सूर्य अस्त हो जायगा तो मैं जलती हुई अग्निमें कूदकर जल मरूँगा।' अर्जुनकी प्रतिज्ञा सुनकर भगवान्ने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया। भगवान्के श्रीमुखकी वायुसे भरे शङ्खकी ध्वनि प्रलयकालके समान हुई, जिससे आकाश, पाताल सभी दिशाएँ काँप गयीं।

× × × ×

भगवान्ने एकान्तमें अर्जुनसे कहा कि 'भाई! मैंने गुप्तचर भेजकर कौरवोंके यहाँसे सब समाचार मँगवा लिये हैं, तुम्हारी प्रतिज्ञा सुनकर पहले तो जयद्रथ आदि सभी घबरा गये थे, परन्तु अब तो उन्होंने निश्चय कर लिया है कि आचार्य द्रोणसहित छहों महारथी जयद्रथकी रक्षा करेंगे, उन छहोंको जीते बिना जयद्रथको पाना कठिन होगा, परन्तु तुमने मेरी सम्मति लिये बिना ही ऐसी विकट प्रतिज्ञा कैसे कर ली?' दृढ़निश्चयी अर्जुनने उत्तरमें कहा—'भगवन्! मुझे महारथियोंकी कोई चिन्ता नहीं है। मैं सबको जीत सकूँगा'—

तव प्रसादाद् भगवन् किं नावाप्तं रणे मम।

(महा० द्रोणपर्व ७६। २१)

---

* सुभद्रा और अर्जुनके प्रसंगवश पुण्यात्मा और पापियोंके वर्णनको ध्यानपूर्वक पढ़कर सुभद्रा-कथित सत्कर्मोंका ग्रहण और अर्जुन कथित पाप कर्मोंका त्याग करनेके लिये सभीको पूरी चेष्टा करनी चाहिये।—सम्पादक

'हे भगवन् ! आपकी कृपासे मुझे रणमें कौन-सी वस्तु अप्राप्त है ?' स्वयं जयद्रथने भी दुर्योधनसे ऐसी ही बात कही--

वासुदेवसहायस्य गाण्डीवं धुन्वतो धनुः ।
कोऽर्जुनस्याग्रतस्तिष्ठेत् साक्षादपि शतक्रतुः ॥

(महा० द्रोणपर्व ७५ । २०)

'वासुदेव श्रीकृष्णकी सहायताप्राप्त गाण्डीवधारी अर्जुनके सामने दूसरेकी तो बात ही क्या, साक्षात् इन्द्र भी नहीं ठहर सकते ।'

बात भी यही थी । भगवान्‌के कारण ही पाण्डव विजयी हुए । वे सारी बातें पहलेसे ही सोच रखते थे। कहाँ कैसे, क्या करनेसे अर्जुनकी और उसके प्रण, प्राण तथा प्रतिष्ठाकी रक्षा होगी, इस बातकी दूरदर्शितापूर्ण जितनी चिन्ता श्रीकृष्णको रहती थी, उतनी चिन्ता अर्जुनको नहीं थी और होती भी क्यों ? जब वह अपने रथकी लगाम उन्हें सौंप चुका और उनके द्वारा 'मा शुचः' का आश्वासन पा चुका तो फिर उसकी चिन्ता भी वही करते !

दूसरे दिन घोर युद्ध हुआ । वीरोंको मारते हुए सेनाके समुद्रको चीरकर छः महारथी वीरोंसे रक्षित सबके बीचमें स्थित जयद्रथके पास पहुँचनेमें बहुत समय लग गया । भगवान्‌ने कहा--'भाई अर्जुन ! इन सबको जीतकर सन्ध्यासे पूर्व जयद्रथको मारना बड़ा कठिन है । देख मैं दूसरा ही उपाय रचता हूँ ।' इतना कहकर--

योगी योगेन संयुक्तो योगिनामीश्वरो हरिः ।
सृष्टे तमसि कृष्णेन गतोऽस्तमिति भास्करः ॥

(महा० द्रोणपर्व १४६ । ६८)

योगयुक्त योगेश्वर भगवान् श्रीहरिने सूर्यको ढँकनेके लिये घोर अन्धकारको उत्पन्न किया। उस अन्धकारके फैलते ही सूर्य अस्त-सा हो गया। सूर्यास्त हुआ देखकर कौरव-पक्षीय लोग हर्षसे भर गये। जयद्रथ समीप आकर हर्षसे आकाशकी ओर ताकने लगा। भगवान्ने कहा—'अर्जुन! बस, यही अवसर है, जयद्रथका मस्तक अपने तीक्ष्ण बाणसे काटकर अपनी प्रतिज्ञा सफल कर।' अर्जुनने बाण सन्धान किया। जयद्रथ और उसके संरक्षकोंकी बुद्धि चकरा गयी। अर्जुनने अपनी बाणधाराओंमें सभीको स्नान करा दिया। इतनेमें भगवान्ने अन्धकार दूर कर दिया। सूर्य अस्ताचलकी ओर जाते हुए दिखायी दिये। भगवान् बोले—'अर्जुन! अब जल्दी कर, परन्तु खबरदार जयद्रथका मस्तक जमीनपर न गिरने पावे। इसको पिताका वरदान है कि जो कोई इसके सिरको काटकर जमीनपर गिरावेगा, उसके सिरके सौ टुकड़े हो जायँगे।'

धरण्यां मम पुत्रस्य पातयिष्यति यः शिरः।
तस्यापि शतधा मूर्धा भविष्यति न संशयः॥

(महा० द्रोणपर्व १४६। ११२)

'इसलिये तू अपने दिव्य बाणोंसे इसके सिरको काटकर बाणोंके द्वारा ऊपर-का-ऊपर उड़ाकर इसका बूढ़ा बाप जहाँ बैठा सन्ध्या-वन्दन कर रहा है, उसकी गोदमें डाल दे।' अर्जुनने वैसा ही किया। जयद्रथका मस्तक काटकर अर्जुनने उसे दिव्य बाणोंद्वारा आकाश-मार्गसे प्रेरित कर उसके पिताकी गोदमें गिरा दिया, पिता झिझककर उठा तो उसके द्वारा वह सिर सहसा

जमीनपर गिर पड़ा, जिससे उसी समय उसके सिरके सौ टुकड़े हो गये। भगवान्‌की दूरदर्शिता और सावधानीसे अर्जुनकी दोनों विपत्तियोंसे अद्भुत प्राणरक्षा हो गयी।

(४)

इन्द्रसे वरदानमें प्राप्त एक अमोघ शक्ति कर्णके पास थी। इन्द्रका कहा हुआ था कि इस शक्तिको तू प्राणसंकटमें पड़कर एक बार जिसपर भी छोड़ेगा, उसकी मृत्यु हो जायगी, परन्तु एक बारसे अधिक इसका प्रयोग नहीं हो सकेगा। कर्णने वह शक्ति अर्जुनको मारनेके लिये रख छोड़ी थी। उससे रोज दुर्योधनादि कहते कि तुम उस शक्तिका प्रयोगकर अर्जुनको मार क्यों नहीं देते। वह कहता कि आज अर्जुनके सामने आते ही उसे जरूर मारूँगा, पर रणमें अर्जुनके सामने आनेपर कर्ण इस बातको भूल जाता और उसका प्रयोग न करता। कारण यही था कि अर्जुनके रथमें सारथिके रूपमें भगवान् निरन्तर रहते। अर्जुनका रथ सामने आते ही कर्णको पहले भगवान्‌के दर्शन होते। भगवान् उसे मोहित कर लेते, जिससे वह शक्ति छोड़ना भूल जाता। वे हर तरहसे अर्जुनको बचाने और जितानेके लिये सचेष्ट थे। उन्होंने स्वयं ही सात्यकिसे कहा था—

> अहमेव तु राधेयं मोहयामि युधां वर।
> ततो नावासृजच्छक्तिं पाण्डवे श्वेतवाहने॥
> न पिता न च मे माता न यूयं भ्रातरस्तथा।
> न च प्राणास्तथा रक्ष्या यथा बीभत्सुराहवे॥

त्रैलोक्यराज्याद् यत् किंचिद्भवेदन्यत् सुदुर्लभम् ।
नेच्छेयं सात्वताहं तद्विना पार्थं धनंजयम् ॥

(महा० द्रोणपर्व १८२ । ४०, ४३-४४)

'हे सात्यकि ! मैंने ही कर्णको मोहित कर रक्खा था, जिससे वह श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुनको इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे नहीं मार सका था । मैं अपने माता-पिताकी, तुमलोगोंकी, भाइयोंकी और अपने प्राणोंकी रक्षा करना भी उतना आवश्यक नहीं समझता, जितना रणमें अर्जुनकी रक्षा करना समझता हूँ । हे सात्यकि ! तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी कोई वस्तु अधिक दुर्लभ हो तो मैं उसे अर्जुनको छोड़कर नहीं चाहता ।' धन्य है !

इसीलिये भगवान्‌ने भीमपुत्र घटोत्कचको रातके समय युद्धार्थ भेजा । घटोत्कचने अपनी राक्षसी मायासे कौरव-सेनाका संहार करते-करते कर्णके नाकोंदम कर दिया । दुर्योधन आदि सभी घबरा गये । सभीने खिन्न मनसे कर्णको पुकारकर कहा कि 'इस आधी रातके समय यह राक्षस हम सबको मार ही डालेगा, फिर भीम-अर्जुन हमारा क्या करेंगे । अतएव तुम इन्द्रकी शक्तिका प्रयोगकर इसे पहले मारो, जिससे हम सबके प्राण बचें ।' आखिर कर्णको वह शक्ति घटोत्कचपर छोड़नी पड़ी । शक्ति लगते ही घटोत्कच मर गया । वीर-पुत्र घटोत्कचकी मृत्यु देखकर सभी पाण्डवोंकी आँखोंमें आँसू भर आये । परन्तु श्रीकृष्णको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे हर्षसे प्रमत्त-से होकर बार-बार अर्जुनको हृदयसे लगाने लगे । अर्जुनने कहा—'भगवन् ! यह क्या रहस्य है ? हम

सबका तो धीरज छूटा जा रहा है और आप हँस रहे हैं ?' तब श्रीकृष्णने सारा भेद बताकर कहा कि 'मित्र ! इन्द्रने तेरे हितके लिये कर्णसे कवच-कुण्डल ले लिये थे, बदलेमें उसे एक शक्ति दी थी, वह शक्ति कर्णने तेरे मारनेके लिये रख छोड़ी थी। उस शक्तिके कर्णके पास रहते मैं सदा तुझे मरा ही समझता था। मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि आज भी, शक्ति न रहनेपर भी कर्णको तेरे सिवा दूसरा कोई नहीं मार सकता। वह ब्राह्मणोंका भक्त, सत्यवादी, तपस्वी, व्रताचारी और शत्रुओंपर भी दया करनेवाला है। मैंने घटोत्कचको इसी उद्देश्यसे भेजा था। हे अर्जुन ! तेरे हितके लिये ही मैं यह सब किया करता हूँ। चेदिराज शिशुपाल, भील एकलव्य, जरासन्ध आदिको विविध कौशलोंसे मैंने इसीलिये मारा या मरवाया था, जिससे वे महाभारत-समरमें कौरवोंका पक्ष न ले सकें। वे आज जीवित होते तो तेरी विजय बहुत ही कठिन होती। फिर यह घटोत्कच तो ब्राह्मणोंका द्वेषी, यज्ञद्वेषी, धर्मका लोप करनेवाला और पापी था। इसे तो मैं ही मार डालता, परन्तु तुमलोगोंको बुरा लगेगा, इसी आशङ्कासे मैंने नहीं मारा। आज मैंने ही इसका नाश करवाया है—

ये हि धर्मस्य लोप्तारो वध्यास्ते मम पाण्डव ॥
धर्मसंस्थापनार्थं हि प्रतिज्ञैषा मया कृता।
ब्रह्म सत्यं दमः शौचं धर्मो ह्रीः श्रीर्धृतिः क्षमा ॥
यत्र तत्र रमे नित्यमहं सत्येन ते शपे।

(महा० द्रोणपर्व १८१ । २८—३०)

'जो पुरुष धर्मका नाश करता है, मैं उसका वध कर डालता हूँ। धर्मकी स्थापना करनेके लिये ही मैंने यह प्रतिज्ञा की है। मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि जहाँ ब्रह्मभाव, सत्य, इन्द्रिय-दमन, शौच, धर्म, (बुरे कर्मोंमें) लज्जा, श्री, धैर्य और क्षमा हैं, वहाँ मैं नित्य निवास करता हूँ।'

अभिप्राय यह है कि तुम्हारे अंदर ये सब गुण हैं, इसीलिये मैं तुम्हारे साथ हूँ और इसीलिये मैंने कौरवोंका पक्ष त्याग रक्खा है, नहीं तो मेरे लिये सभी एक-से हैं। फिर तुम घटोत्कचके लिये शोक क्यों करते हो ? अपना भाई भी हो तो क्या हुआ, जो पापी है वह सर्वथा त्याज्य है !

इस प्रकार मित्र अर्जुनके प्राण और धर्मकी भगवान्‌ने रक्षा की।

(५)

जयद्रथ-वधके दिन अर्जुनके रथके घोड़ोंको बहुत ही परिश्रम करना पड़ा। घोड़े घायल हो गये। प्यासके मारे उनके प्राण घबड़ा उठे। जयद्रथ अभी बहुत दूर था, इससे यह निश्चय हुआ कि घोड़े खोल दिये जायँ। भगवान्‌ने घोड़े खोल दिये। अर्जुन रथसे उतरकर गाण्डीव-धनुषको तानकर पर्वतके समान अचल हो खड़े हो गये। अर्जुनने तुरंत ही बाणोंसे पृथ्वी फोड़कर वहाँ एक सुन्दर सरोवर तैयार कर दिया। वहाँ अर्जुनने बाणोंसे ही खम्भे और सुन्दर भवन तथा परकोटा बना दिया। भगवान् घोड़ोंके बाण निकालकर उन्हें अच्छी तरह धोने, नहलाने और पानी पिलाने लगे। जब घोड़े नहाकर, पानी पीकर और घास खाकर ताजे हो गये,

तब श्रीकृष्णने प्रसन्न हो उन्हें रथमें जोड़ दिया। इस
मित्रकी किसी प्रकारकी सेवा करनेमें आनाकानी नहीं क

(६)

कर्ण और अर्जुनका घमासान युद्ध हो रहा है। कर्ण और
शल्यकी बातें सुनकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा कि यदि कर्ण मुझे मार डाले तो आप क्या करेंगे? भगवान्‌ने हँसकर अर्जुनसे कहा—

पतेद्दिवाकरः स्थानाच्छुष्येदपि महोदधिः।
शैत्यमग्निरियान्न त्वां कर्णो हन्याद्धनञ्जय॥
यदि चैतत्कथञ्चित्स्याल्लोकपर्यासनं भवेत्।
हन्यां कर्णं तथा शल्यं बाहुभ्यामेव संयुगे॥

(महा० कर्णपर्व ८७। १०५-१०६)

'चाहे सूर्य टूटकर गिर पड़े, समुद्र सूख जाय, अग्नि शीतल हो जाय, परन्तु कर्ण तुझे नहीं मार सकता और यदि किसी प्रकार ऐसा हो ही जाय तो संसार उलट जायगा और मैं अपने बाहुओंसे कर्ण और शल्यको मार डालूँगा।'

कर्णने अर्जुनको मारनेके लिये एक सर्पमुख बाण बहुत दिनों-से सँभालकर रख छोड़ा था। वह बाण महाभयानक, अति तीक्ष्ण, जलता हुआ तथा बड़ा ही प्रभावशाली था। कर्णके उस बाणको चढ़ाते ही दिशाओंमें और आकाशमें आग-सी लग गयी। सैकड़ों तारे दिनहीमें टूट-टूटकर गिरने लगे। इन्द्रसहित लोकपालगण हाहाकार करने लगे। खाण्डव-वन-दाहके समयका अर्जुनका वैरी अश्वसेन नामक एक महाविषधर सर्प भी वैर निकालनेके लिये

'जी पुरुस बैठा। कर्णने अर्जुनके मस्तकको ताककर बड़ी हूँ। धर्मकी बाण छोड़ दिया। परन्तु भगवान्‌ने उससे भी अधिक सत्यकी बाणके अर्जुनके रथतक पहुँचनेके पहले ही अर्जुनके बड़े दमदनदार रथको एकदम पैरसे दबाकर पृथ्वीमें धँसा दिया। चारों घोड़े घुटने टेककर जमीनपर बैठ गये। बाण आया, परन्तु अर्जुनके मस्तकमें नहीं लग सका। कर्णने बड़े उत्साह और उद्योगसे अव्यर्थ सर्पबाण मारा था, परन्तु रथ नीचा हो जानेसे वह व्यर्थ हो गया। बाण इन्द्रके दिये हुए अर्जुनके दिव्य मुकुटमें लगा, जिससे वह मुकुट पृथ्वीपर गिरकर जल गया। भगवान्‌ने अर्जुनको सचेत करके उड़ते हुए अश्वसेन नागको भी मरवा डाला। यों बड़े भारी मृत्युप्रसंगमें अर्जुनकी रक्षा हुई।

(७)

महाभारतमें पाण्डव विजयी हुए। छावनीके पास पहुँचनेपर श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि 'हे भरतश्रेष्ठ! तू अपने गाण्डीव-धनुष और दोनों अक्षय भाथोंको लेकर पहले रथसे नीचे उतर जा। मैं पीछे उतरूँगा, इसीमें तेरा कल्याण है।' यह आज नयी बात थी, परन्तु अर्जुन भगवान्‌के आज्ञानुसार नीचे उतर गये। तब बुद्धिके आधार जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी लगाम छोड़कर रथसे उतरे। उनके उतरते ही रथकी ध्वजापर बैठा हुआ दिव्य वानर तत्काल अन्तर्धान हो गया। तदनन्तर अर्जुनका वह विशाल रथ पहिये, धुरी, डोरी और घोड़ोंसमेत बिना ही अग्निके जलने लगा और देखते-ही-देखते भस्म हो गया। इस

घटनाको देखकर सभी चकित हो गये । अर्जुनने ह
इसका कारण पूछा, तब भगवान् बोले—

अस्त्रैर्बहुविधैर्दग्धः पूर्वमेवायमर्जुन ।
मदधिष्ठितत्वात् समरे न विशीर्णः परन्तप ॥
इदानीं तु विशीर्णोऽयं दग्धो ब्रह्मास्त्रतेजसा ।
मया विमुक्तः कौन्तेय त्वय्यद्य कृतकर्मणि ॥

(महा० शल्य० ६२ । १८-१९)

'हे परन्तप अर्जुन ! विविध शस्त्रास्त्रोंसे यह रथ तो पहले ही जल चुका था, मैं इसपर बैठा इसे रोके हुए था, इसीसे यह सबसे पूर्व रणमें भस्म नहीं हो सका । हे कौन्तेय ! तेरा कार्य सफल करके मैंने इसे छोड़ दिया, इसीसे ब्रह्मास्त्रके तेजसे जला हुआ यह रथ इस समय खाक़ हो गया है । मैं पहले न रोके रखता या आज तू पहले न उतरता तो तू भी जलकर खाक हो जाता ।'

भगवान्की इस लीलाको देख-सुनकर सभी पाण्डव आनन्दसे गद्गद हो गये ।

महाभारतमें तथा अन्य पुराणोंमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे अर्जुनके साथ भगवान्की अपूर्व मैत्रीका परिचय मिलता है । यहाँ तो संक्षेपमें बहुत ही थोड़े-से उदाहरण दिये गये हैं । इस लीलाका आनन्द लेनेकी इच्छा रखनेवालोंको उपर्युक्त ग्रन्थ अवश्य पढ़ने-सुनने चाहिये ।

जिस समय उत्तराके गर्भस्थ बालक परीक्षित्को अश्वत्थामाने मार दिया था और उत्तरा भगवान्के सामने रोने लगी थी, उस समय विशुद्धात्मा भगवान्ने सारे जगत्को सुनाते हुए कहा था—

वीस्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद्भविष्यति ।
सञ्जीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥
क्रपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात्परावृत्तस्तथा सञ्जीवतामयम् ॥
यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ॥
यथाहं नाभिजानामि विजयेन कदाचन ।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ॥
यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ॥
यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः सञ्जीवतामयम् ॥

(महा० अश्वमेध० ६९ । १८–२३)

'हे उत्तरा ! मैं कभी झूठ नहीं बोलता, मेरा कहना सत्य ही होगा । सब देहधारी देखें; मैं अभी इस बालकको जीवित करता हूँ । यदि मैंने कभी हँसी-मजाकमें भी झूठ नहीं बोला है, और यदि मैं युद्धमें कभी पीछे नहीं लौटा हूँ तो यह बालक जी उठे । मुझे यदि धर्म और विशेषकर ब्राह्मण प्यारे हैं तो जन्मते ही मरा हुआ अभिमन्युका बालक जीवित हो जाय । यदि कभी मैंने जानमें अर्जुनसे विरोध नहीं किया है, यदि यह सत्य है तो यह मृत बालक जी उठे । सत्य और धर्म मेरे अंदर नित्य ही प्रतिष्ठित रहते हैं, इनके बलसे यह अभिमन्युका मरा बालक जीवित हो जाय । यदि कंस

और केशीको मैंने धर्मानुसार मारा है, (द्वेष
जी उठे।' भगवान्के ऐसा कहते ही बालक

इस प्रसंगमें भगवान्के सत्य, वीरत्व, ध
द्वेषहीनता आदिकी घोषणा तो महत्त्वकी है ही,
अविरोधकी बात, भगवान्का अर्जुनके प्रति कितना अ
था, इसको सूचित करती है।

इसी प्रकार भक्त सुधन्वाको मारनेकी प्रतिज्ञा कर लेनेपर भगवान्ने अर्जुनको बचाया था और उनके प्रणकी रक्षा की थी।

गृहस्थमें रहकर भी अर्जुन इन्द्रियोंपर विजयी होनेके कारण शास्त्रीय रीतिसे ब्रह्मचारी भी थे। ब्रह्मचर्य, सत्य और सदाचारके कारण ही इनमें ब्रह्मास्त्र लौटानेकी शक्ति थी। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रको व्यर्थ करनेके लिये अर्जुनके द्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोग होनेपर जब दोनों अस्त्रोंके बीचमें भिड़ जानेसे जगत्में प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया, तब दिव्य ऋषियोंने प्रकट होकर अर्जुनसे ब्रह्मास्त्र लौटानेके लिये अनुरोध किया। तब जगत्की हितकामना-से तुरंत ब्रह्मास्त्र लौटा लिया। ब्रह्मास्त्र लौटा लेनेपर अर्जुनके लिये महर्षि वेदव्यासने कहा कि, 'तीनों लोकोंमें एक भी ऐसा पुरुष नहीं है जो इस अस्त्रका उपसंहार कर सके, स्वयं इन्द्र भी नहीं कर सकते। चरित्रहीन पुरुष तो इस अस्त्रका प्रयोग ही नहीं कर सकते। ब्रह्मचारी भी उपसंहार नहीं कर सकते। अर्जुन ब्रह्मचारी, सत्यव्रती, शूरवीर और गुरुकी आज्ञाका पालन करने-वाला है, इसीसे यह ऐसा कर सका है।'

वीस्युत्तरे -एक बढ़कर अनेक गुण थे उसका मुख्य
'जौ पुर सर्जीव: भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे और
हूँ । धर्मकी क्तपूर्व ...र्जुनसे इतना अधिक स्नेह करते थे कि हर
सत्यकी न च ...त पूरी हो इस बातके लिये पूर्ण प्रयत्न करते थे ।
पथा

...वान् श्रीकृष्ण और अर्जुनमें पूर्ण अभिन्नता थी और ...नमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं था, इस बातको उनके विपक्षियोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है । कौरवोंके राजा स्वयं दुर्योधनने महाराज धृतराष्ट्रके सामने पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञका वर्णन करते हुए कहा था कि—

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः ॥
यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम् ।
कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ॥
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत् ।

(महा० सभा० ५२ । ३१-३३)

अर्थात् 'श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं । अर्जुन श्रीकृष्णको जो कुछ करनेको कहते हैं, श्रीकृष्ण निःसन्देह वही सब करते हैं, श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये दिव्यलोकका भी त्याग कर सकते हैं और वैसे ही अर्जुन श्रीकृष्णके लिये प्राणोंका भी परित्याग कर सकते हैं ।'

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनमें कैसा अभिन्न और सच्चा प्रेम था और भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको किस आदरकी दृष्टिसे देखते थे इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर आये हुए ...
वहाँके समाचार पूछे, तब सारा हाल कहते ...
श्रीकृष्ण-अर्जुनका मैंने विलक्षण प्रेमभाव देखा है ...
बातें करनेके लिये बड़े ही विनीत भावसे उनके अ... ...
मैंने जाकर देखा कि वे दोनों महात्मा उत्तम वस्त्राभूषणोंस...
होकर रत्नजटित सोनेके महामूल्य आसनोंपर बैठे थे। अर्जुनकी गोदमें श्रीकृष्णके पैर थे और द्रौपदी तथा सत्यभामाकी गोदमें अर्जुनके दोनों पैर थे। 'अर्जुनने अपने पैरके नीचेका स्वर्णका पीढ़ा सरकाकर मुझे बैठनेको कहा, मैं उसे छूकर अदबके साथ नीचे बैठ गया। तब श्रीकृष्णने अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए और उन्हें अपने ही समान बतलाते हुए मुझसे कहा—

देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद्रणे॥
बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते॥
(महा० उद्योग० ५९। २६, २९)

'देवता, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, मनुष्य और नागोंमें कोई ऐसा नहीं है जो युद्धमें अर्जुनका सामना कर सके। बल, वीर्य, तेज, शीघ्रता, लघुहस्तता, विषादहीनता और धैर्य—ये सारे गुण अर्जुनके सिवा किसी भी दूसरे मनुष्यमें एक साथ विद्यमान नहीं हैं।'

भगवान्ने अर्जुनके साथ सदा सख्यत्वका व्यवहार किया और उन्हें अपनी लीलाओंमें प्रायः साथ रक्खा। भगवान्के परम-

'जी. पुर वीम्युत्तरे ...गहीन-से हो गये और शीघ्र ही हिमालयमें हूँ । धर्मकी सञ्जीवः ...ड़ दिया । भगवान्‌के प्रति अर्जुनका इतना सत्यकी ...क्तपूर्वं ... गीताज्ञानके सर्वोत्तम और सर्वप्रथम श्रोता तथा न च ... पथ ... । सायुज्य-मुक्तिको न ग्रहणकर परम धाममें भी ...की सेवामें ही लगे रहे । स्वर्गारोहणके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने दिव्य देह धारणकर परमधाममें देखा—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम् ।
× × × ×
दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम् ।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः ॥
उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा ।
× × × ×

(महा० स्वर्गा० ४ । २—४)

भगवान् श्रीगोविन्द अपने ब्रह्मशरीरयुक्त हैं । उनका शरीर देदीप्यमान है, उनके समीप चक्र आदि दिव्य और घोर अस्त्र पुरुषका शरीर धारणकर उनकी सेवा कर रहे हैं । महान् तेजस्वी वीर अर्जुन भी भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं ।

हम सबको चाहिये कि संसारके भोग्यपदार्थोंसे आसक्ति दूरकर अर्जुनकी भाँति भगवान्‌के शरणागत हो जायँ ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !
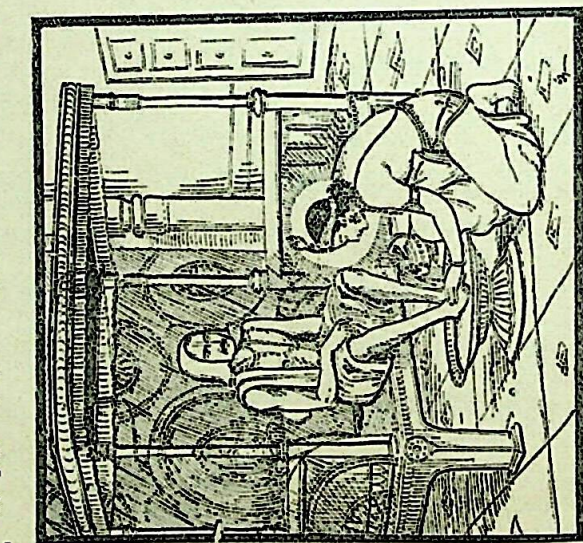
सुदामाका चरण-प्रक्षालन
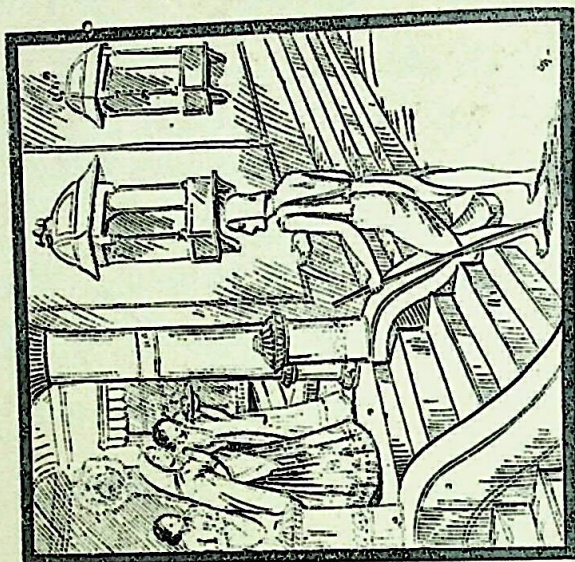
सुदामाको ऐश्वर्य-प्राप्ति

विप्र सुदामा

महान् दरिद्री सुदामा पण्डित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके लड़कपनके सखा थे। दोनों एक ही गुरुके घरमें एक साथ पढ़े थे। सुदामा वेदके तत्त्वज्ञ, विषयोंसे विरक्त, शान्त और जितेन्द्रिय थे। भगवान् श्रीकृष्णसे इनकी खूब पटती थी। दीनोंके साथ ही दीनबन्धुकी यथार्थ मित्रता हुआ करती है। इसीमें तो उनके इस नामकी सार्थकता है! विद्या पढ़ लेनेपर दोनों मित्र अपने-अपने घर चले गये। बहुत दिन बीत गये, आपसमें कभी भेंट नहीं हुई। भगवान् श्रीकृष्ण तो द्वारकाके राजराजेश्वर बने और उधर बेचारे सुदामा एक टूटी-फूटी झोपड़ीके निवासी हुए। सुदामाजी स्वयं जैसे सज्जन थे वैसे ही उन्हें सती स्त्री भी मिल गयी थी। दरिद्रता तो उनके घरमें साक्षात् मूर्तिमान् होकर रहती थी। परन्तु दम्पति हरिभजन करते हुए सन्तोषसे अपना शुद्ध जीवन बिताते थे। धनका लोभ तो था ही नहीं, आवश्यक सामग्रियोंके लिये भी वे किसीसे कुछ माँगते नहीं थे।

यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी।
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा॥
(श्रीमद्भा० १०।८०।७)

प्रारब्धवश जो कुछ आप ही मिल जाता था उसीमें निर्वाह करते। दरिद्रताके कारण सुदामाजी एक बहुत मैले-कुचैले कपड़ेका चिथड़ा पहने रहते और उनकी पतिव्रता स्त्री भी उन्हींके समान एक चिथड़ेसे अपना काम चलाती। नित्य भोजन न मिलनेके कारण

पतिकी भाँति स्त्री भी उन्हींके साथ-साथ भूखका अपार कष्ट सहती, परन्तु पतिसे वह कभी कुछ कहती नहीं थी। पति-पत्नीका स्वभाव और उनकी भक्ति देखिये—

नित पूजा जप ज्ञान ध्यानमें रहत सुदामा।
सेवत चरन पुनीत प्रेमतें नित्य सुवामा॥
मिले कबहिं फल मूल खाहिं अमृत करि जानहिं।
रह उच्छिष्ट सो वाम राम जूठो करि मानहिं॥
यहि प्रकार बीते दिवस जो दरिद्र तो उग्र मन।
यथा लाभ सन्तोष सुख रमत राम रमनीरमन॥
ज्यों-ज्यों दुख नित प्रबल प्रीति त्यों-त्यों द्विज हरिपद।
मथत छीर नौनीत घिरत पावक जम्बूनद॥
रामवधू सिववधू कन्तकी पतिव्रत धारन।
कन्त-चरनकी धूर सीस सिन्दूर सँवारन॥
यदपि सही संसार सुख असन वसन विनु दीनता।
तौ मन बच क्रम रामके चरन-कमल लौलीनता॥
(हलधर कवि)

दम्पति इस प्रकार अपना सात्त्विक जीवन बिताते। सुदामा समय-समयपर अपनी सती पत्नीको अपने बाल्यकालकी कथा सुनाया करते और गुरुगृहकी बात चलनेपर भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति होते ही वे प्रेममें मग्न हो जाते। प्रिय सखाकी स्मृतिसे उनके रोमाञ्च हो जाता, आँखें डबडबा आतीं, वाणी गद्गद हो जातीं और बड़ी कठिनतासे वे रोते-रोते अपने मित्रकी मनोहर लीलाएँ सुनाते। पत्नी भी उन्हें सुनकर मुग्ध हो जाती।

एक समय ऐसा हुआ कि कई दिनोंतक लगातार ,अन्न नहीं मिला। भूखके मारे बेचारी ब्राह्मणीका मुख सूख गया, बच्चोंकी दशा देखकर उसकी छाती भर आयी। उसने मनमें सोचा कि जगत्के एकमात्र निधि, सम्पूर्ण ऐश्वर्यकी खानि भगवान् जिसके मित्र हैं, उसके बाल-बच्चे यों भूखके मारे प्राण दे दें, यह बात तो ठीक नहीं है। उसने अपने हृदयका भाव पतिसे कहना चाहा, परन्तु साहस नहीं हुआ। थोड़ी देरके लिये वह रुक गयी, बच्चे फिर खानेको माँगने लगे, मातृस्नेह उमड़ा, दरिद्रपीड़िता, दुःखिता सती ब्राह्मणीसे अब नहीं रहा गया। वह डरसे काँपती-काँपती पतिके समीप जाकर विनयके साथ बोली—

ननु ब्रह्मन् भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभः॥
तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम्।
दास्यति द्रविणं भूरिं सीदते ते कुटुम्बिने॥
आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः।
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति।
किं न्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टाञ्जगद्गुरुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ८०। ९–११)

अर्थात् 'हे महाभाग! मैं जानती हूँ कि साक्षात् लक्ष्मीपति ब्राह्मणोंके हितकारी, शरणागतपालक, यादवश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आपके मित्र हैं, वे साधुओंकी परम गति हैं। आप उनके निकट जाइये; आप कुटुम्बी हैं, दरिद्रताके कारण कष्ट पा रहे हैं, वे आपको

अवश्य ही प्रचुर धन देंगे। वे भोज, वृष्णि और अन्धकोंके स्वामी इस समय श्रीद्वारकाजीमें विराजते हैं। हे प्रभो! वे जगद्गुरु अपने चरणकमलोंका स्मरण करनेवालेको जब अपना स्वरूपतक दे देनेमें भी सङ्कोच नहीं करते, तब अपने परम भक्त आपको उनसे धन मिलनेमें तो सन्देह ही क्या है? प्रभो! मैं जानती हूँ कि आपको धनकी रत्तीभर भी चाह नहीं है। परन्तु धन बिना गृहस्थीका निर्वाह होना बड़ा कठिन है, अतएव मेरी समझसे आपका अपने प्रिय मित्रके पास जाना ही आवश्यक और उचित है।'

सुदामाने सोचा कि ब्राह्मणी दुःखोंसे घबराकर धनके लिये मुझे वहाँ भेजना चाहती है। उन्हें इस कार्यके लिये मित्रके घर जानेमें बड़ा सङ्कोच हुआ। वे कहने लगे—'पगली! क्या तू धनके लिये मुझे वहाँ भेजती है? क्या ब्राह्मण कभी धनकी इच्छा किया करते हैं? अपना तो काम भगवान्‌का भजन ही करना है। भूख लगनेपर भिक्षा माँग ही सकते हैं।'

मेरे हिये हरिको पदपंकज बार हजारलौं देख परिच्छा।
औरनको धन चाहिये बावरी ब्राह्मनके धन केवल भिच्छा॥

(नरोत्तम कवि)

'ब्राह्मणीने कहा, यह तो ठीक है, परन्तु यहाँ भीख भी तो नसीब नहीं होती। मेरे फटे चिथड़े और भूखसे छटपटाते हुए बालकोंके मुँहकी ओर तो देखिये। मुझे धन नहीं चाहिये। मैं नहीं कहती कि आप उनके पास जाकर राज्य या लक्ष्मी माँगें। अपनी इस दीनदशामें एक बार वहाँ जाकर आप उनसे मिल तो

आइये !' सुदामाने जानेमें बहुत आनाकानी की, परन्तु अन्तमें यह विचारकर कि चलो इसी बहाने—

अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ।

—श्रीकृष्णचन्द्रके दुर्लभ दर्शनका परम लाभ होगा, सुदामाने जानेका निश्चय कर लिया, परन्तु खाली हाथों कैसे जायँ ! उन्होंने स्त्रीसे कहा कि—

अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद् गृहे कल्याणि दीयताम् ।

'हे कल्याणि ! यदि कुछ भेंट देनेयोग्य सामग्री घरमें हो तो लाओ ।' पतिकी बात तो ठीक थी परन्तु वह बेचारी क्या देती सुदामाको तो श्रीकृष्णप्रेमकी मस्तीमें कई दिनोंकी भूखका भी पता नहीं था, परंतु ब्राह्मणीको तो अपनी फाकाकशीका हाल रत्ती-रत्ती मालूम था । दरिद्रोंके घरोंमें हीरेकी कनीके अभावके समान सुदामाके टूटे छप्परकी फूटी हँडियोंमें अन्नकी कनी भी तो नहीं थी । ब्राह्मणी चुप हो गयी, परन्तु आखिर यह सोचकर कि कुछ दिये बिना सुदामा जायँगे नहीं, वह बड़े सङ्कोचसे पड़ोसिनके पास गयी । आशा तो नहीं थी, परन्तु पड़ोसिनने दया करके चार मुट्ठी चावल उसे दे दिये । ब्राह्मणीने उनको—

चैलखण्डेन तान् बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥

—एक मैले-कुचैले फटे चिथड़ेमें बाँधकर श्रीकृष्णकी भेंटके लिये पतिको दे दिया और बड़े उल्लासके साथ वह बोली—

सिद्धि करौ गनपति सुमिरि बाँधि दुपटिया खूट।
चले जाहु तेंहि मारगहि माँगत वाली बूट॥
(नरोत्तम कवि)

सुदामाने 'अच्छा' कहकर चावलोंकी पुटकिया बगलमें दबा ली और द्वारकाकी तरफ प्रयाण किया। बहुत दिनोंके बाद प्रिय मित्रके मिलनसे होनेवाले आनन्दकी सुन्दर-सुन्दर कल्पना करते हुए निष्काम भक्त सुदामा द्वारकाजी पहुँचे। सुदामाजी तो द्वारकाका ठाट-बाट देखकर ही चकित हो गये।

दृष्टि चकाचौंध गयी देखत सुवरनमई,
एकते एक सरस द्वारकाके भौन हैं।
पूछे विनु कोऊ काहूसों न करै बात जहाँ—
देवता-से बैठे सब साधि-साधि मौन हैं॥
देखत सुदामा धाय पुरजन गहे पाय,
कृपा करि कहो कहाँ कीन्हे विप्र गौन हैं।
धीरज अधीरके हरन पर पीरके,
बताओ वलवीरके महल वहाँ कौन हैं?॥
(नरोत्तम कवि)

यह ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णका महल भी नहीं जानता, इस बातसे आश्चर्यचकित होकर किसी नागरिकने सुदामाजीको महाराजका महल दूरसे दिखला दिया। सुदामाजी महलके पहले द्वारपर पहुँचे। द्वारपालने मस्तक नवाकर कुशल-समाचार पूछनेके बाद कहा कि 'हे द्विजराज! आप महानुभाव कौन हैं और किससे मिलनेकी इच्छासे यहाँ पधारे हैं?' सुदामाने कहा—

हौं भिखारि संसार दीन दुर्बल दुर्दस हौं।
उनछ कर्मको करनिहार दारिद्के वस हौं॥
विप्र सुदामा नाम कृष्ण हैं मित्र हमारे।
मित्र मिलन हौं द्वारपाल ! आयहुँ हरिद्वारे॥
अब इतनी विनती सुनहु अहो पवरि ! तुम चतुर नर।
कहो जाय गोपालतें खड़े सुदामा द्वारपर॥

(हलधर कवि)

सुदामाके मुखसे भगवान्के लिये 'मित्र' शब्द सुनकर द्वारपालकी बुद्धि चकरा गयी, उसने सोचा कि कहीं ब्राह्मण पागल तो नहीं हो गया, अरे—

देवराजको दर्प नाहिं जो मित्र कहावैं।
व्यासदेवसे विष्णुरूप जेहिं सीस नवावैं॥

(हलधर)

ऐसे सर्वेश्वर भगवान्को नंगा-भूखा ब्राह्मण अपना सखा कैसे कहता है ? परन्तु द्वारपाल तो भगवान्का ही था। उसने सोचा कि मेरे प्रभु दीनबन्धु हैं न ? दीनका मित्र बनना उनके लिये स्वाभाविक ही है। परन्तु राजनियमके अनुसार ब्राह्मणको आदर-सहित वहाँ बैठाकर द्वारपाल अंदर गया।

द्वारपाल तहँ चलि गयो, जहाँ कृष्ण यदुराय।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयो, बोल्यो सीस नवाय॥

(नरोत्तम कवि)

जाकर बोला, नाथ !

सीस पगा न झगा तनपे प्रभु ! जाने को आहि बसे किहि गामा।
धोती फटी-सी लटी दुपटी, अरु पायँ उपानह की नहिं सामा॥

द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देखि, रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयालको धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥
(नरोत्तम)

भगवान् 'सुदामा' शब्द सुनते ही सारी सुध-बुधि भूल गये—

सुनत सुदामा नाम नाथ सुभ घरी गुनी है।
बहुत दिननपर आजु मित्र-आगमन सुनी है॥
कर बीरी कर्पूर पान करते डारी है।
रही न सुधि पट-पीत पानही पगु छारी है॥
रही लटपटी पाग सिर सोउ न सके बनाइके।
तजि भूषन ऐसेहि चले मिले सुदामा धाइके॥
(हलधर)

मुकुट वहीं रह गया, पीताम्बर कहीं गिर गया, पादुका भी नहीं पहन पाये और दौड़े द्वारपर। जाते ही सुदामाके चरणोंपर गिर पड़े।

सजल नैन गोपाल मित्रके पायँ गहे हैं।
अंकमालिका देन बहुरि उर लाइ रहे हैं॥
दोउ मित्रके नेत्र नीर ढरकन लागे हैं।
द्वारावतिके लोग देखि धीरज त्यागे हैं॥
ज्यों जादव समुझावते, महाराज धीरज धरैं।
त्यों अधीर होते अधिक, बिलखि बिलखि अंकन भरैं॥
(हलधर)

लोचन पूरि रहे जलसों प्रभु, दूरते देखत ही दुख मेट्यो।
सोच भयो सुरनायकके कलपद्रुमके हिय माँझ खखेट्यो॥
काँपि कुबेर हिये सरसे, पगजात सुमेरहु रंकसे सेट्यो।
राज भयो तब ही जब ही भरि, अंक रमापतिसों द्विज भेट्यो॥

आज भक्त और भगवान्‌का प्रिय सखाके रूपमें मधुर मिलन हो रहा है। कृष्ण, सुदामा दोनोंके नेत्रोंकी मिली हुई आँसुओंकी धारा गङ्गा, गोदावरीसे अधिक कल्याणकारी होकर जगत्‌को पावन कर रही है। महाराजकी सहस्रों रानियाँ और द्वारकावासी नर-नारी ब्राह्मणके सौभाग्यकी सराहना कर रहे हैं। देवता चकित और मुग्ध होकर लीलामयकी प्रेमलीला देख रहे हैं। देवराज इन्द्र, कल्पवृक्ष, कुबेर और सुमेरु घबरा रहे हैं कि भगवान् कहीं हमारा सर्वस्व सुदामाको न दे डालें। ऋषि, मुनि और भक्तगण भक्तवत्सल भगवान्‌की मिलनरीतिको देख-देखकर प्रमुदित हो रहे हैं। भगवान्‌ने सुदामाके बिवाईसे फटे हुए चरणोंको देखकर रोते हुए कहा—

ऐसे बिहाल बिवाइनसों, पग कंटकजाल गड़े पुनि जोये।
हाय! महादुख पाये सखा तुम, आये इतै न किते दिन खोये॥
देखि सुदामाकी दीन दसा, करुना करके करुनानिधि रोये।
पानी परातको हाथ छुयो नहिं, नैननके जलसों पग धोये॥

परातका पानी छूनेकी भी आवश्यकता नहीं हुई। सरकार-ने अपने आँसुओंकी धारासे ही सुदामाके पद पखार डाले और उन्हें छातीसे लिपटा लिया! बहुत देर हो गयी, भगवान् सुदामाको छातीसे अलग नहीं करते। चारों ओर असंख्य लोगोंकी भीड़ लग गयी। अन्तमें उद्धव और अक्रूरादिने आकर भगवान्‌से प्रार्थना की। तब भगवान् सुदामाजीके गलबाहीं डाले हुए उन्हें अन्तःपुरमें ले गये।

जिन महलोंमें बिना आज्ञा वृष्णि और अन्धकवंशी यादव भी नहीं जा सकते, उन महलोंमेंसे एक सर्वाङ्गसुन्दर दिव्य महलमें सुदामाजी पहुँचे। भगवान् अच्युतने प्रिय बन्धु सुदामाको आदर-

सहित ले जाकर अपने दिव्य पलंगपर बैठाया और पूजनकी सामग्री स्वयं अपने हाथोंसे संग्रह कर अपने ही हाथोंसे उनके चरणोंको धोकर उस जलको स्वयं त्रिलोकपावन होते हुए भी अपने मस्तकपर धारण किया। रुक्मिणीजीने कहा कि मैं भी चरण पखारूँगी। भगवान्ने कहा, ठीक तो है, सब रानियाँ पखारें और इनके चरणोदकको महलोंमें छिड़ककर और पानकर स्थान और मनको पवित्र करें। रुक्मिणीजी एक हाथमें स्वर्णकी झारी लेकर दूसरे हाथसे चरण धोने लगीं।

दहिन कमलकर लिये कनक झारी हरिवामा।
वाम कमल-करते पखारती चरनं सुदामा॥
जासु चरनरज धरत ध्यान मुनि जनम गँवाये।
जाकी गति नहिं सिव बिरंचि पन्नगपति पाये॥
जेहि सुर सदा पुकारते, जगदम्बा जगतारनी।
तिन्हें आजु सुर देखते, भिच्छुकचरनं पखारनी॥

इसके बाद और सब रानियोंने भी ऐसा ही किया। स्वयं लक्ष्मीपति जिसके चरणोंका चरणामृत लें उसका चरण यदि लक्ष्मीजी या उनकी सखियाँ धोती हैं तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है?

भगवान्ने अपने प्रिय मित्रके शरीरमें दिव्य गन्धयुक्त चन्दन, अगरु, कुंकुम लगाया और सुगन्धित धूप, दीप इत्यादिसे पूजन करके उन्हें दिव्य भोजन कराया, पान-सुपारी दी। ब्राह्मण सुदामाका शरीर अत्यन्त मलीन और क्षीण था। देहभरमें स्थान-स्थानपर नसें निकली हुई थीं। वह एक फटा-पुराना कपड़ा पहने हुए थे।

परन्तु भगवान्‌के प्रिय सखा होनेके कारण साक्षात् लक्ष्मीका अवतार रुक्मिणी अपनी सखी देवियोंसहित रत्नदण्डयुक्त व्यजन-चामर हाथोंमें लिये परम दरिद्र भिक्षुक ब्राह्मणकी बड़े चावसे सेवा-पूजा करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण सुदामाका हाथ अपने हाथमें लेकर लड़कपनकी मनोहर बातें करने लगे। बाल्यकालकी एक गुरुसेवा और गुरुस्नेहकी सुन्दर कथा भगवान्‌ने सुदामाको याद दिलायी। सुदामा भगवान्‌की वाणी सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्हें धनकी कामना तो पहले ही रत्तीभर भी नहीं थी, परन्तु उनके मनमें यदि कहीं छिपी हुई किसी सूक्ष्म कामनाकी कोई कल्पना भी की जा सकती थी तो वह भी अब नष्ट हो गयी। सुदामा बोले—

किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्‌गुरो।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत्॥
यस्यच्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो।
श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ८०। ४४-४५)

'हे देवदेव! हे जगद्‌गुरो!! आप सत्यसंकल्प हैं, सौभाग्य-वश गुरुकुलमें मैं आपका सङ्ग पाकर कृतार्थ हो गया। हे नाथ! आपकी कृपासे मुझको कोई भी कामना नहीं है, सब फल प्राप्त हैं। हे प्रभो! सम्पूर्ण मङ्गलोंकी उत्पत्तिका स्थान वेदमय ब्रह्म आपकी मूर्ति है। स्वामिन्! आपका गुरुके यहाँ रहकर विद्या पढ़ना अत्यन्त विडम्बना या लोकाचारमात्र है।'

भगवान्‌ने प्रिय मित्रकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए हँस-कर कहा कि 'भाई! तुम मेरे लिये कुछ भेंट भी लाये हो?

भक्तोंकी प्रेमपूर्वक दी हुई जरा-सी वस्तुको भी मैं बहुत मानता हूँ, क्योंकि मैं प्रेमका भूखा हूँ। अभक्तके द्वारा दी हुई अपार सामग्री भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती।'

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥*

(श्रीमद्भा० १०। ८१। ४)

'जो भक्त पत्र, पुष्प, फल और जल आदि मुझे प्रेमसे अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पदार्थ मैं प्रेमसहित खाता हूँ।'

भगवान्के इतना कहनेपर भी सुदामा चावलोंकी पुटकी भगवान्को नहीं दे सके!

तंदुल तिय दीन्हें हुते, आगे धरियो जाय।
देखि राजसम्पति विभव, दे नहिं सकत लजाय॥

(नरोत्तम)

भगवान्की अतुलराजसम्पत्ति और वैभव देखकर सुदामाको चावल देनेमें बड़ी लज्जा हुई। भगवान् हरि सब जानते थे, उन्होंने फिर प्रेमसे कहा—

कछु भाभी हमको दियो, सो तुम काहे न देत।
चाँपि गाँठरी काँखमें, रहे कहो किहि हेत॥

(नरोत्तम)

सुदामाने सिर झुका लिया, चावलोंकी पुटकी नहीं दी, तब—

सर्वभूतात्मदृक् साक्षात् तस्यागमनकारणम्।
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत् पुरा॥

---

* श्रीमद्भगवद्गीताके नवम अध्यायका २६ वाँ श्लोक भी यही है।

पत्न्याः पतिव्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया ।
प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ८१ । ६-७)

'सब प्राणियोंके अन्तरकी बात जाननेवाले हरिने अपने निकट ब्राह्मणके आनेका कारण समझकर विचार किया कि यह मेरा निष्काम भक्त और प्रिय सखा है । इसने धनकी कामनासे पहले कभी मेरा भजन नहीं किया और न अभी इसे किसी तरहकी कामना है, इसीलिये यह चावलोंकी भेंट देना नहीं चाहता । परन्तु यह अपनी पतिव्रता पत्नीकी प्रार्थनासे मेरे पास आ गया है, अतएव इसे मैं वह (भोग और मोक्षरूप) सम्पत्ति दूँगा जो देवताओंको भी दुर्लभ है !'

यों विचारकर भगवान्ने यह क्या है ? कहकर जल्दीसे सुदामाकी बगलमें दबी हुई चावलोंकी पुटकी जबरदस्ती खींच ली—

जीरन पट, फट छुटि परे बिखरि गये तेहि ठौर ।

पुराना फटा कपड़ा था, पुटकी खुल गयी और चावल चारों ओर बिखर गये । भगवान् बड़े प्रेमसे उन्हें बटोरकर कहने लगे—

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ८१ । ९)

'हे सखे ! यही तो मुझको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाली प्यारी भेंटकी सामग्री है । ये चावल मुझको और (मेरे साथ ही) समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे ।' यों कहकर एक मुट्ठी चावल चबा गये और उसके दिव्य स्वादकी सराहना करने लगे ।

तुरंत ही दूसरी मुट्ठी भरी। इतनेहीमें पास बैठी हुई हरिचरणकमलोंकी नित्यकिङ्करी, अनन्याश्रया लक्ष्मीरूपिणी जगज्जननी श्रीरुक्मिणीने परब्रह्म भगवान् यदुनन्दनका हाथ पकड़ लिया।

काँपि उठी कमला मन सोचति मोसों कहा हरिको मन औंको।
ऋद्धि कँपी नव निद्धि कँपी सब सिद्धि कँपी ब्रह्मनायक धौंको॥
सोक भयो सुरनायकके जब दूसरि वार लयो भरि झौंको।
मेरु डरै बकसै जिन मोहिं कुवेर चबावत चामर चौंको॥

हूल हियरामें कान कानन परी है टेर,
भेटत सुदामैं स्याम बनैं न अघातहीं।
कहे नरोत्तम ऋद्धि सिद्धिनमें सोर भयो
ठाढ़ी थरहरे और सोचे कमला तहीं॥
नागलोक लोक सब ओक ओक थोक थोक
ठाढ़े थरहरैं मुखसे न कहैं बातहीं।
हालो पर्‍यो लोकनमें लालो पर्‍यो चक्रिनमें,
चालो पर्‍यो लोगनमें चाँवर चबातहीं॥
(नरोत्तम)

श्रीरुक्मिणीजीने कहा—

एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसम्पत्समृद्धये।
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम्॥
(श्रीमद्भा० १०।८१।११)

'हे विश्वरूप! बस कीजिये। आपकी इतनी प्रसन्नता ही मनुष्योंकी सबसे ऊँची श्रीवृद्धिके लिये यथेष्ट है। मेरी कृपासे मिलनेवाली इस लोक और परलोककी आपकी रखी हुई सब प्रकारकी सम्पत्ति अथवा ऐश्वर्य इस ब्राह्मणको इस एक मुट्ठी चावलसे ही मिल गया। अब और चावल चबाकर क्या आप मुझको भी दे डालना चाहते हैं?'

माता लक्ष्मी ! धैर्य रखिये । भगवान् आपको नहीं देते । वे तो स्वयं अपने आपको देते हैं जो किसीके रोकनेपर रुकते नहीं। वास्तवमें भक्तोंको आपसे काम ही क्या है ! वे तो आपके स्वामीके उपासक हैं । आप उनकी सेवा करनेके लिये साथ रहें तो आपकी मर्जी ! अस्तु, भगवान् मुट्ठी छोड़कर मुसकराने लगे । तदनन्तर वे बोले—भक्तमालकर्ता महाराज श्रीरघुराजसिंहजी कहते हैं—

ऐसे सुनि प्यारी वचन, यदुनन्दन मुसकाइ ।
मन्द मन्द बोले वचन, आनँद उर न समाइ ॥
व्रजमें यशोदा मैया मन्दिरमें माखन औ,
मिश्री मही मोहन त्यों मोदक मलाई है ।
खायो मैं अनेक वार तैसे मथुरामें आइ,
व्यंजन अनेक मोहि जननी जेंवाई है ॥
तैसे द्वारिकामें यदुवंशिनके गेह गेह,
सहित सनेह पायो भोजनमें लाई है ।
रघुराज आजलों त्रिलोकहूमें मीत ऐसी—
राउरके चाउरते पाई ना मिठाई है ॥
खायो अनेकन यागन भागन मेवा रमा कर वागन दीठे ।
देवसमाजके साधुसमाजके लेत निवेदन नाहि उबीठे ॥
मीत जु साँची कहौं रघुराज इते कस वै भये स्वादते सीठे ।
पायो नहीं कतहूँ अस मैं जस राउर चाउर लागत मीठे ॥

सुदामाजी कुछ समयतक वहाँ ठहरे । भगवान्ने अपनी पटरानियोंसहित उनकी बड़ी सेवा की ।

नित नित सव द्वारावती प्रभु दिखलायी आप ।
भरे वाग अनुराग सव जहाँ न व्यापहिं ताप ॥
परमकृपा दिन दिन करी कृपानाथ यदुराय ।
मित्रभावना विस्तरी दूनो आदर भाय ॥
(नरोत्तम)

श्रीकृष्णमिलनका अतुल सुख सम्भोग कर सुदामाजी भगवान्‌की आज्ञा लेकर घरको चले। विश्वपिता, आनन्दमय परमात्मा श्रीकृष्ण बहुत दूरतक सुदामाके साथ-साथ गये और प्रणाम तथा विनीत प्रार्थनाभरे वचनोंसे प्रसन्न करके प्रिय मित्रको विदा किया। श्रीकृष्णमहाराजने उन्हें कुछ भी धन नहीं दिया और न सुदामाने उनसे कुछ माँगा ही। यह बात नहीं कि उनके मनमें माँगनेकी तो कामना रही हो परन्तु लज्जासे या 'बिना माँगे अधिक मिल जायगा' 'भगवान् सब जानते हैं, मैं क्या कहूँ, ये आप ही दे देंगे' इस भावसे न माँगा हो। वास्तवमें उनके मनमें कामनाका कहीं लेश भी नहीं था। वे तो श्रीकृष्णका दर्शन पाकर परम आनन्दको प्राप्त हो गये। स्त्रीके कहनेपर धनकी इच्छासे जो उन्हें आना पड़ा था उन्हें अपनी इसी कृपणतापर बड़ी लज्जा हो रही थी। सुदामा मन-ही-मन विचारते हुए चले जा रहे हैं—

अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया।
यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि॥
क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः॥
निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा।
महिष्या वीजितः श्रान्तो बालव्यजनहस्तया॥
शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत्॥
स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥
अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददात्॥

(श्रीमद्भा० १० । ८१ । १५—२०)

अर्थात् 'अहो ! मैंने ब्रह्मण्यदेव भगवान्‌की ब्रह्मण्यता भलीभाँति देखी। देखो, उनके वक्षःस्थलमें साक्षात् लक्ष्मी निवास करती हैं तथापि उन्होंने मुझ महादरिद्रको गलेसे लगा लिया। कहाँ मैं नीच दरिद्र और कहाँ लक्ष्मीनिवास भगवान् श्रीकृष्ण'। तथापि उन्होंने मुझे ब्राह्मण समझकर गलेसे लगा लिया और जैसे बड़े भाईका आदर किया जाता है, उसी तरह अपनी प्रियाके पलंगपर मुझे बैठाया और मेरी रास्तेकी थकावट दूर करनेके लिये साक्षात् लक्ष्मीजीका अवतार श्रीरुक्मिणीजी मुझपर चँवर डुलाने लगीं। जैसे इष्टदेवका भक्तिपूर्वक पूजन किया जाता है वैसे ही श्रीहरिने अपने हाथोंसे मेरा पूजन किया, मेरे पैर दबाये और मेरी परम सेवा की। (यही तो भक्तोंकी विशेषता है। भगवान्‌को तो सब पूजते हैं; परन्तु उन्हें स्वयं अपने हाथों सामग्री इकट्ठी कर भक्तोंकी पूजा करनी पड़ती है।) सुदामा मन-ही-मन कहते हैं, उन श्रीहरिके चरणोंकी सेवा मनुष्योंको स्वर्ग, मोक्ष, इस लोककी महान् सम्पत्ति और सब प्रकारकी सिद्धियोंको देनेवाली है। तथापि परम कृपालु भगवान्‌ने यह विचारकर मुझे धन नहीं दिया कि 'यह निर्धन ब्राह्मण धन पानेसे अत्यन्त गर्वित होकर मेरा स्मरण नहीं करेगा।'

यही तो भक्तकी भावना है, जो धन न मिलनेपर भगवान्‌को कोसते हैं वे तो धनके भक्त हैं। भगवान्‌को तो उन लोगोंने धनका साधन बनाना चाहा है। जगत्‌के मनुष्यो ! देखो, देखो एक बार सुदामाके हृदयकी ओर आँख उठाकर और अपने हृदयका परदा हटाकर ! घरमें अन्नका दाना नहीं है, पहननेको पाँच हाथ कपड़ा नहीं है, रहनेको घास-फूसकी झोंपड़ी नहीं है, बच्चे

दाने-दानेके लिये तरस रहे हैं, स्त्रीको कई दिनोंकी भूखी छोड़कर आये हैं ! दरिद्रताने मानो प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होकर सारे परिवारको ढक रक्खा है, इतनेपर भी माँगनेकी इच्छा नहीं है ! पतिव्रता स्त्रीके वचनोंसे आना पड़ा परन्तु माँगना बन नहीं पड़ा । भावना ही नहीं रही, यह नहीं सोचा कि घरमें बच्चोंकी क्या दशा होगी, स्त्रीको जाकर क्या कहूँगा । राजराजेश्वर परम प्रेमी मित्रके यहाँसे जाकर उस सती स्त्रीको क्या उत्तर दूँगा, जिसके अपने और बच्चोंके पेट भूखके मारे सिकुड़ गये हैं और जिसके बदन ढाँपनेको पूरा एक कपड़ा भी नहीं है । मामूली बात नहीं है, बड़े-बड़े वीर ऐसी अवस्थामें घबराकर कर्तव्यपथसे विचलित हो जाते हैं। परन्तु धन्य हैं सुदामा, जो आज धन न पानेमें परमात्माकी कृपाका दर्शन कर रहे हैं। यही तो पद-पदपर भगवत्कृपा अनुभव करनेका तरीका है । किसी भी अवस्थामें मन मैला नहीं, कहींपर असन्तोष नहीं, उसके प्रत्येक दान और उसके प्रत्येक विधानपर पूरा सन्तोष ! यही तो निर्भरता है । ऐसे भक्तके घर-बारकी सारी सँभालका भार भगवान् अपने ऊपर स्वयं ले लेते हैं। सुदामाको तो कामना नहीं थी, वे तो निःस्पृह थे; परन्तु उनकी स्त्री और बच्चे भूखे मरते हैं, इस बातको अब भगवान् कैसे सह सकते हैं ? भगवान्ने निष्काम सुदामाकी सती स्त्रीके मनमें एक बार उठी हुई कामनाको भी पूरा करना अपना कर्तव्य समझा । भगवान्के दर्शन अमोघ हैं ! उससे सांसारिक कामना भी (उनके उचित समझनेपर) पूरी होती है और भगवत्-चरणारविन्दकी प्राप्ति तो होती ही है । ध्रुव और विभीषण कामनाको लेकर भगवान्के सम्मुख हुए थे । दर्शन होते ही कामनाका नाश हो गया परन्तु भगवान्ने उनकी पहलेकी कामना भी पूरी की और अन्तमें उन्हें अपना दुर्लभ परम पद भी दिया । यही भगवान्की विशेषता है परन्तु

कामना लेकर भगवच्चरणारविन्दमें उपस्थित होना है बड़ी ही ओछी बात ! इस परम रहस्यको जो समझ लेते हैं उनके अन्तःकरणमें तो किसी भी अवस्थामें कामना उत्पन्न नहीं होती ! सुदामाके मनमें कामना नहीं थी। परन्तु उनकी पत्नीके मनमें एक बार कामना उदय हुई थी, इसीसे अद्भुतकर्मा भगवान्‌ने तुरंत विश्वकर्माको भेजकर सुदामाकी टूटी झोंपड़ी रातोंरात देवदुर्लभ दैवीविलास नगरके रूपमें परिणत करवा दी। सुदामा अपने गाँवके समीप पहुँचकर देखते हैं कि वहाँ उनकी झोंपड़ीका कहीं पता नहीं है। जहाँ झोंपड़ी थी वहाँ आज सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके समान तेजयुक्त बड़े ऊँचे-ऊँचे महल बने हुए हैं। उनके आसपास बाग-बगीचे लगे हैं, अनेक पक्षी नाना प्रकारके कल्लोल करते हुए अपने मधुर गानसे मनुष्योंके मन मोहित कर रहे हैं। अनेक प्रकारके पुष्प खिल रहे हैं, महलोंमें विविध भाँतिके दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सज्जित अनेक स्त्री और पुरुष इधर-उधर घूम रहे हैं। सुदामाजी तो यह देखकर दंग रह गये। उन्होंने सोचा मेरी टूटी मढ़ैया कहाँ गयी ? ऐसा सम्पन्न महल कैसे बन गया ? क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ, क्या मैं पराये नगरमें आ घुसा ?

जगर मगर ज्योति छाय रही चहुँदिसि,
अगर वगर हाथी घोड़नको सोर है।
चौपड़को बन्यो है बजार पुनि सोननके,
महल दुकानकी कतार चहुँ ओर है॥
भीड़भाड़ धकापेल चहुँदिसि देखियत,
द्वारकाते दूनो यहाँ प्यादनको जोर है।
रहिबेको ठाम है न काहूसों पिछान मेरी,
बिन जाने बसे कोऊ हाड़ मेरे तोर है॥

सुदामाजी अपने घरकी एक-एक चीजोंकी याद करके सोचने लगे कि यहाँ तो उनमेंसे कोई भी चीज नहीं दीखती ।

फूटी एक थारी बिनु टोंटनीकी झारी हुती,
बाँसकी पिटारी औ पथारी हुती टाटकी ।
बेंटे बिनु छुरी और कमण्डलु हौ टोकवो हौ,
टूटो हुतो पोपौ पाटी टुटी हुती खाटकी ॥
पथरौटा काठको कठौता कहूँ दीसै नाहिं,
पीतरको लोटो हौ कटोरो है न वाटकी ।
कामरी फटी-सी हुती डोंड़नकी माली नाक,
गोमतीकी माटीकी न सुध कहूँ माटकी ॥
(नरोत्तम)

यह सब तो नहीं सही, परन्तु ब्राह्मणी और बच्चे भी कहाँ गये ।

सुदामाजी यों सोच ही रहे थे कि देव-देवियोंके समान तेज युक्त सुदामापुरनिवासी नर-नारियोंने आनन्दसहित गाते-बजाते हुए स्वागतके लिये वहाँ आकर आदरपूर्वक सुदामाजीसे कहा कि 'आप विचार क्या कर रहे हैं ? चलिये, पधारिये, यह आपकी ही पुरी है । पतिका शुभागमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सज्जिता लक्ष्मी-सरीखी शोभावाली सुदामाजीकी पतिव्रता स्त्री भी बाहर निकली । पतिको देखकर प्रेमोत्कण्ठासे उसके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे । सुदामाजी यह सब देखकर विस्मित हो गये और उन्होंने उस महासमृद्धि तथा ऐश्वर्ययुक्त महलमें पत्नीसहित प्रवेश किया । सुदामाजी सारा रहस्य समझकर मन-ही-मन कहने लगे कि 'यह उन महान् ऐश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्णकी ही लीला है । वे ही मेरे सखा, याचकको बिना बताये गुप्तरूपसे सब कुछ देकर उसका मनोरथ पूर्ण करते हैं । परन्तु मुझे धन नहीं चाहिये, मेरी

तो बारंबार यही प्रार्थना है कि जन्म-जन्मान्तरमें वही श्रीकृष्ण मेरे सुहृद्-सखा तथा मित्र हों और मैं उनका अनन्य भक्त रहूँ। मैं इस सम्पत्तिको नहीं चाहता, मुझको तो प्रत्येक जन्ममें उन सर्वगुणसम्पन्न महानुभावकी विशुद्ध भक्ति और उनके भक्तोंका लोकपावन सङ्ग ही प्राप्त हो। वे दया करके ही धन नहीं दिया करते हैं; क्योंकि धनके गर्वसे धनवानोंका अधःपात हो जाता है। इसीलिये वे अपने अदूरदर्शी भक्तको विविध सम्पत्ति और राज्य आदि ऐश्वर्य नहीं देते।'

पाठक ! यह वचन अत्र दरिद्र सुदामाके नहीं हैं, परन्तु महान् ऐश्वर्यवान् होनेपर भी मनसे सर्वथा विरक्त एक अनुभवी परम भक्तके हैं। धनी और निर्धन दोनोंको इन शब्दोंपर ध्यान देना चाहिये। धनियोंको केवल धनमें ही सुख न मानकर और निर्धनोंको धन-प्राप्तिमें सुख होनेकी झूठी आशाको त्याग कर सबके परम धन परमात्मा श्रीकृष्णके प्रेममें अपनेको लगाना चाहिये।

भक्तराज सुदामाने अनासक्तभावसे संसारमें रहते हुए ईश्वर-भजनमें मन लगाकर धीरे-धीरे विषयोंका त्याग करके अन्तमें भगवान्के ध्यानसे अपने अहंभावको सर्वथा मिटा दिया और वे शीघ्र ही ब्रह्मज्ञानियोंकी गति उस विशुद्ध ब्रह्मपदको प्राप्त हो गये।

यदि आपको भी कोई मित्र चाहिये तो जगत्के स्वार्थमय मित्रोंको छोड़कर उस परम सुहृद् कृष्णको ही अपना मित्र बनाइये। देखिये, वह देखिये ! वह हाथ बढ़ाये आपसे गाढ़ी मित्रता करनेके लिये आपके सामने उपस्थित हैं। अवसर न चूकिये !

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

चक्रिक भील

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्येऽन्त्यजास्तथा ।
हरिभक्तिं प्रपन्ना ये ते कृतार्था न संशयः ॥
हरेरभक्तो विप्रोऽपि विज्ञेयः श्वपचाधिकः ।
हरिभक्तः श्वपाकोऽपि विज्ञेयो ब्राह्मणाधिकः ॥
(पद्म० क्रियायो० अ० २६)

अर्थात् 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और जो अन्य अन्त्यज लोग हैं, वे भी हरिभक्तिद्वारा भगवान्‌की शरण होनेसे कृतार्थ हो जाते हैं इसमें संशय नहीं है । यदि ब्राह्मण भी भगवान्‌के विमुख हो तो उसे भी चाण्डालसे अधिक समझना चाहिये और यदि चाण्डाल भी भगवान्‌का भक्त हो तो उसे भी ब्राह्मणसे अधिक समझना चाहिये ।'

द्वापरयुगमें चक्रिक नामक एक भील वनमें रहता था । भील होनेपर भी उसके आचरण बहुत ही उत्तम थे । वह मीठा बोलनेवाला, क्रोध जीतनेवाला, अहिंसापरायण, दयालु, दम्भहीन और माता-पिताकी सेवा करनेवाला था । यद्यपि उसने कभी शास्त्रोंका श्रवण नहीं किया था तथापि उसके हृदयमें भगवान्‌की भक्तिका आविर्भाव हो गया था । वह सदा हरि, केशव, वासुदेव और जनार्दन आदि नामोंका स्मरण किया करता था । वनमें एक भगवान् हरिकी मूर्ति थी । वह भील वनमें जब कोई सुन्दर फल देखता तो पहले उसे मुँहमें लेकर चखता, फल मीठा न होता तो उसे स्वयं खा लेता और यदि बहुत मधुर और स्वादिष्ट होता तो उसे मुँहसे निकालकर भक्तिपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करता ।

आदर्श भक्त

भगवान्की गोदमें भक्त चक्रिक